वस्तुतः दो भिन्न शासन-प्रणालियों का संघर्ष था और वसिष्ठ-विश्वामित्र भी केवल दो व्यक्ति विशेष न होकर, उक्त दो भिन्न विचार-प्रणालियों के प्रमुख प्रवर्तक और प्रसारक भी थे। दोनों के संघर्ष में विश्वामित्र परास्त हुए, परन्तु वसिष्ठ ने भी कठोर आत्मनिरीक्षण कर यह अनुभव किया कि परकीय आक्रमणों से समाज के संरक्षण की दृष्टि से 'अराज्य' उपयोगी नहीं है, प्रत्युत् एक सुसंगठित तथा सर्वांगपूर्ण राज्यतंत्र की आवश्यकता है। वसिष्ठ ने त्रय्यारुण के पुत्र सत्यव्रत को अयोध्या का राजा बनाया और कालान्तर में अयोध्या के राजकुमार, जैसे—सगर, दिलीप, भगीरथ, रघु, अज आदि योग्य क्षत्रियोचित संस्कार पा सकें, इसकी व्यवस्था वसिष्ठ ने की।

४.४ रावण-वध की ऋषि-योजना और मर्यादा-पुरुषोत्तम राम

दक्षिण की राक्षस-शक्ति से राष्ट्र को मुक्त करने में दशरथ ने कोई रुचि नहीं दिखायी। तब वसिष्ठ-विश्वामित्र की सम्मिलित योजना से परचक्र के घोर संकट से स्वराष्ट्र को मुक्त करने वाले एक चक्रवर्ती सम्राट् के निर्माण हेतु हुए प्रयत्न के फलस्वरूप श्री रामचन्द्र का भव्य विकास हुआ। श्रीराम के अलौकिक सामर्थ्य की धाक भारतीय जन-मन पर जगाने में शिव-धनुष-भंग, परशुराम-तेजोभंग आदि घटनाओं का उत्तम योग रहा। रावण-वध के लिये ऋषियों की सुदीर्घ योजना थी, यह बात वाल्मीकीय रामायण के अध्ययन से स्पष्ट हो जाती है। श्री राम ने चौदह वर्ष के वनवास के प्रारंभिक काल में ही अपने भावी कार्य की पूर्वसिद्धता की थी। असामान्य नेतृत्व द्वारा जनता में प्रतिकार-सामर्थ्य और आत्म-विश्वास जगाने में वे सफल रहे। उन्होंने नये मित्र व अनुयायी प्राप्त किये। वनस्थ सभी ऋषियों ने उनका स्वागत किया, कार्यसिद्धि की दृष्टि से उन्हें आवश्यक सूचनाएं दीं तथा उनके हाथों अनेक दुष्टों का वध करवाकर उनके प्रति लोकश्रद्धा जगायी। अन्त में राम ने लंका पर विजय प्राप्त की, परंतु अनासक्त भाव से उन्होंने जीते हुए राज्य की व्यवस्था विभीषण को सौंप दी। कालान्तर में उन्होंने प्रजावत्सल चक्रवर्ती सम्राट् तथा आदर्श धर्म-राज्य के संस्थापक के रूप में अमर कीर्ति पायी। 'रामवत् वर्तितव्यं न च रावणादिवत्' की लोकोक्ति में उनके 'मर्यादापुरुषोत्तम' स्वरूप के प्रति श्रद्धा-सुमन चढ़ाये गये।

४.५ रामराज्य का संगठनात्मक आधार

इस रामराज्य के आधाररूप एक विशाल संगठन का भी श्री रामचन्द्र ने निर्माण किया था। सहस्रार्जुन के स्वार्थी लोगों के व्यक्तिनिष्ठ संगठन और परशुराम के अमूर्त तत्त्व पर अधिष्ठित संगठन से भिन्न तथा व्यक्तिनिष्ठा व तत्त्व-निष्ठा का सुन्दर समन्वयरूप और 'स्वर्गादपि गरीयसी' मातृभूमि की भक्ति पर अधिष्ठित उनका संगठन अद्भुत था। 'संपूर्ण समाज एक पुरुष है और मैं हूं उसका अवयव'—यही था उस संगठन के घटकों का जीवन-सूत्र। उसमें छोटे-बड़े अथवा ऊँच-नीच का कोई भेदभाव न था। समाज की इच्छा के सम्मुख अपनी उन्नत ग्रीवा नत करते हुए, उन्होंने उज्ज्वल राष्ट्रनिष्ठा का अभूतपूर्व आदर्श प्रस्तुत किया। संगठनशास्त्र के एक सर्वश्रेष्ठ आचार्य के नाते उन्हें अमर कीर्ति तो मिली ही, वे 'भारतीयों के हृदयसम्राट्' भी कहलाये और एक अनुपम आदर्श के रूप में उनका पावन चरित्र आज भी प्रेरक है।

पंचम अध्याय : राष्ट्रीय शिक्षा की योजना

पंचम अध्याय में श्री आप्टे ने श्रीकृष्ण और गौतम बुद्ध के अवतारों का विवेचन किया है।

५.१ श्रीकृष्ण की राष्ट्रीय शिक्षा

भगवान राम के काल तक आते-आते हमारे समाज के नेतागण, 'आसेतु हिमाचल संपूर्ण भारतवर्ष' के प्रति भक्ति से युक्त लोगों का निर्माण संस्कारों द्वारा करना संभव है, यह जान चुके थे, किंतु उसकी विस्तृत व्यावहारिक योजना नहीं बन सकी थी। अतः श्रीकृष्ण-जन्म के समय देश में कुछ सीमा तक वही स्थिति पुनः निर्मित हो चुकी थी, जो पहले भगवान् परशुराम के समय में थी। कंस, शिशुपाल, जरासंध आदि उच्छृंखल राजा लोग आस-पास के छोटे-छोटे राजाओं को दबाते हुए दिखायी देते थे और प्रजापालन की ओर उनका तनिक भी ध्यान नहीं था। श्रीकृष्ण ने तो अन्याय-अत्याचार के प्रतिकार का कंकण बांधकर ही मानो जीवन प्रारम्भ किया था।

मंथन

अन्तर्गत

भारतीय भाषाओं में संयोजक तन्तु

राजनीति की दृष्टि में धर्म,
धर्म की दृष्टि में राजनीति

भारतीय श्रमिक-आन्दोलन

राजनीतिक दलों के लिये
आचार-संहिता

दशावतार-कथा में निहित
'हमारे राष्ट्र-जीवन की परम्परा'

आदि-आदि....

दीनदयाल शोध संस्थान की त्रैमासिक पत्रिका
वर्ष २ अंक १ श्रावण विक्रमाब्द २०३६ (जुलाई १९७९)

हमारे अन्य प्रकाशन

1.	**Industrial India : A Blueprint For Tomorrow** G.M. Laud (Ed.)		50.00
2.	**Bangladesh : Crisis and Consequences** Dr. N.M. Ghatate (Ed.)		7.00
		Deluxe	15.00
3.	**Indo-Soviet Treaty : Reactions and Reflections** Dr. N.M. Ghatate (Ed.)		15.00
		Deluxe	30.00
4.	**Pt. Deendayal Upadhyaya : A Profile** Sudhaker Raje (Ed.)		12.00
		Deluxe	20.00
5.	**Peoples Participation** K.K. Das (Ex-Chief Secretary, U.P. Govt.)		2.00
6.	**Shri Aurobindo's Message for Today : Prize Winning Essays**		3.50
7.	**Land Reforms : An Economist's Approach** Dr. S. Swamy		2.00
8.	**Revoke Emergency — Emergency in the Constitution and Democracy** Dr. N.M. Ghatate (Ed.)	(English)	1.75
		(Hindi)	1.50
9.	**Destination — Nation's Tribute to Pandit Deendayal Upadhyaya** Sudhaker Raje (Ed).		10.00
		Deluxe	20.00
10.	**Gandhi, Lohia & Deendayal** P. Parameswaran (Ed.)		10.00
		Deluxe	20.00
11.	**Integral Approach**	5.00 Deluxe	12.00
१२.	**पं. दीनदयाल उपाध्याय: व्यक्ति दर्शन** सं० कमल किशोर गोयनका	विशिष्ट	१२.००
			२०.००
१३.	**तत्त्वविज्ञान (भारतीय तत्त्वज्ञान और आधुनिक विज्ञान : तुलनात्मक अध्ययन)** डा० हरिश्चन्द्र बथ्वाल		१२.००
१४.	**पं. दीनदयाल उपाध्याय : व्यक्तित्व और जीवन-दर्शन** डा० हरिश्चन्द्र बथ्वाल		१.५०
१५.	**गांधी, लोहिया और दीनदयाल** सं० डा० हरिश्चन्द्र बथ्वाल		१०.००
		विशिष्ट	२०.००
१६.	एकात्म-दर्शन	५.०० विशिष्ट	१२.००

दीनदयाल शोध संस्थान

७-ई, स्वामी रामतीर्थ नगर, नयी दिल्ली-११००५५

मंथन

दीनदयाल शोध संस्थान, नयी दिल्ली का त्रैमासिक पत्र

वर्ष २ अंक १ श्रावण विक्रमाब्द २०३६ (जुलाई १९७९)

निर्मन्थ्यध्वमतन्द्रिताः (श्रीमद्भागवत ८-६-२३)
निरालस्य होकर मंथन करो

विषयानुक्रमणिका

यद्भूतो यद्भविष्यति ५
भारतीय भाषाओं में संयोजक तन्तु
डा० प्रभाकर माचवे ९
राहुलजी के उपन्यासों में इतिहास पर
भौतिकवादी द्वन्द्व-प्रक्षेपण डा० एन० रवीन्द्रनाथ १७
राजनीति की दृष्टि में धर्म, धर्म की
दृष्टि में राजनीति डा० लक्ष्मीनारायण लाल २३
भारतीय श्रमिक-आन्दोलन
ओमप्रकाश एवं शीतलाप्रसाद २९
वैदिक राजनीतिशास्त्र का दार्शनिक विवेचन
डा० विश्वनाथप्रसाद वर्मा ४१
राजनीतिक दलों के लिये आचार-संहिता
(स्व०) दीनदयाल उपाध्याय ४५
व्यष्टि व समष्टि और एकात्म मानववाद
डा० विजेन्द्र सिंह गुप्त ४९
दशावतार-कथा में निहित 'हमारे राष्ट्र-
जीवन की परम्परा' डा० श्यामबहादुर वर्मा ५५
देश और दिशा :
(महानगरों में खोया जीवन) महावीरदत्त गिरि ६७
(राष्ट्रीय चित्रपट के अभाव में आशा की
झीनी किरण—क्षेत्रीय चित्रपट)
सतीश पेडणेकर ७१
आपके पत्र ७५
चतुर्भुज विष्णु ८, योगः कर्मसु कौशलम् १६, समुद्र-
मंथन २२, विश्वास और आत्मविश्वास ४८, मा गृधः
कस्य स्विद्धनम् ६६

सम्पादकीय परामर्श-परिषद्

डा० वी० एम० दाण्डेकर
डा० आर० आर० दिवाकर
डा० लक्ष्मीमल्ल सिंघवी
डा० विश्वनाथप्रसाद वर्मा
डा० शिशिरकुमार घोष
श्री जैनेन्द्रकुमार
डा० गोविन्दचन्द्र पाण्डेय
डा० आत्माराम
प्रो० खालिक अहमद निजामी
डा० दामोदरप्रसाद सिंहल
श्री दत्तोपन्त ठेंगड़ी
प्रो० के० आर० श्रीनिवास आयंरग
डा० एस० भगवन्तम

सम्पादक

श्री पी० परमेश्वरन — सम्पादक
डा० हरिश्चन्द्र बथ्वाल — संयुक्त सम्पादक

कार्यालय

दीनदयाल शोध संस्थान
७ ई, स्वामी रामतीर्थ नगर,
नयी दिल्ली-११००५५

शुल्क

एक प्रति — रु० ५-००
वार्षिक :
भारत, पाकिस्तान, बंगला देश, श्रीलंका — रु० २०-००

एशिया, अफ्रीका एवं यूरोप
(वायु-मार्ग से) — £ ७-००

अमेरिका, कनाडा और द० अमेरिका
(वायु-मार्ग से) — $ १३-००

"भौतिक हो चाहे आत्मिक, जीवन का सुख प्राप्त करना है तो अनेक लोगों का सहकार्य आवश्यक है। कहने को हम भले कह दें कि अमुक कार्य मैंने अकेले ही किया है, किन्तु यदि थोड़ा विचार करें तो पता चलेगा कि हमारी प्रत्येक कृति और उस कृति के कारण हुई उपलब्धि के पीछे समाज के अनेक बन्धुओं के हाथ हैं। इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को संगठित समाज-जीवन का अंग बन कर ही रहना चाहिए। यही स्वाभाविक है। इसी में सुख, समृद्धि और प्रगति निहित है। संगठन में शक्ति है और शक्ति से विश्व में सब कुछ प्राप्त किया जा सकता है। संगठन की ही यह महिमा है कि इसके सहारे सुख के समय सुख में कई गुना वृद्धि हो जाती है और दुःख आ पड़ने पर दुःख का आघात भी बंट कर कम हो जाता है।

"किन्तु कोई भी भीड़ संगठन नहीं होती। प्रायः इस संबंध में लोग धोखा खा जाते हैं। भीड को ही संगठन समझ बैठते हैं। भीड़ और संगठन में अन्तर यह है कि भीड़ में प्रत्येक व्यक्ति अपने आपको अकेला समझता, अनुभव करता है। अनेक व्यक्ति होते हुए भी प्रत्येक अलग-अलग हैं। सबकी कृतियाँ अलग हैं, सबके लक्ष्य और हित भी अलग हैं। उनमें से किसी को भी यह पता नहीं कि वहाँ कब क्या हो जायेगा। हो-हल्ला में कोई किसी की नहीं सुनता। सभी आपस में अपरिचित हैं। हलचल तो है, किन्तु अनुभूति के स्तर पर प्रत्येक अकेला है। संगठन में ऐसा नहीं रहता। अनेक होने के बाद भी संगठन में सबका मिल कर एक अस्तित्व है। लक्ष्य, दिशा और विचार एक हुए हैं। इस कारण सबके हित समान हैं। उनकी क्रिया में सौगुनी, हजारगुनी, लाखगुनी शक्ति प्रकट होती है। प्रत्येक व्यक्ति की अपनी इकाई होते हुए भी वह अब सम्पूर्ण का अभिन्न घटक है। इसलिये सफलता, आनन्द, उत्साह है।"

—दीनदयाल उपाध्याय

यद्भूतो यद्भविष्यति

भविष्य अनिश्चित है, वर्तमान अस्थिर; अतः असुरक्षा की भावना से ग्रस्त मानव-मन बार-बार मुड़कर भूत काल की ओर देखता है। प्रकृति के नियम तो आज भी वही हैं जो पूर्वकाल में थे, परन्तु मानव और उसका समाज जड़ प्रकृति के अंग मात्र नहीं हैं। उनकी चेतन इच्छाशक्ति, एषणा और प्रयत्न, इनके प्रति प्रकृति की प्रतिक्रिया तथा मानव और उसके समाज की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया से वैयक्तिक और सामुदायिक जीवन नवनवीन स्थितियों में पहुंचता रहता है।

मानव के समक्ष जो सामाजिक, आर्थिक परिस्थितियां आज हैं या जिनके निकट भविष्य में होने की संभावना है, वे इससे पूर्व के ज्ञात इतिहास के काल में नहीं थीं। इन परिस्थितियों में जैसे आज देशगत अन्तर है, अर्थात् एक ही समय में एक देश की सामाजिक, आर्थिक परिस्थितियां दूसरे देश की परिस्थितियों से भिन्न हैं, वैसे ही कालगत अन्तर भी होता आया है, अर्थात् एक ही देश में दीर्घ अन्तराल के दो भिन्न-भिन्न कालों की सामाजिक, आर्थिक परिस्थितियां भिन्न रही हैं। इस प्रकार समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र उस सीमा तक सचल शास्त्र हैं, जहां तक उनकी प्रयोज्यता की परिस्थितियों में परिवर्तनशीलता है। हमें अपने सामाजिक, आर्थिक नियम देश-काल के अनुसार परिस्थितिजन्य सम्भावनाओं के अनुरूप ही निर्धारित करने पड़ेंगे। इस संबंध में न तो किसी अन्य देश की विधि-व्यवस्था पर, और न अतीत की किसी स्मृति पर ही हम पूर्णतः निर्भर रह सकते हैं। यह अवश्य है कि मनुष्य की कोई भी समस्या किसी न किसी स्तर पर मूल मानव-स्वभाव और प्रकृति से सम्बन्धित होती है, जहां पर्याप्त सार्वत्रिक एवं सार्वकालिक समानता है। अतः, व्यवहार में देशकालिक स्थितियों पर निर्भर रहने वाली व्यवस्था को भी मूलतः शाश्वत एवं सार्वभौम सत्य पर आधारित होना चाहिए।

मनुष्य सदा से प्रकृति के रहस्यों पर विजय पाकर अपनी पहुँच के सर्वोत्तम का आविष्कार करने का आकांक्षी रहा है। सभ्यता एवं संस्कृति के अनेक उत्कर्ष-अपकर्षों का साक्ष्य इतिहास में है। परन्तु ज्ञान-विज्ञान की उन्नति और विकास की चिन्ता न करके प्राचीनता के मोहपाश में बंधे रहने में कोई बुद्धिमानी नहीं है। इतिहास का

महत्व यही है कि भविष्य के लिये उससे शिक्षा मिले तथा संस्कृति भी वहीं तक वरेण्य है, जहाँ तक वह उत्कर्ष में सहायक हो। भूत काल का जो ज्ञान आज के ज्ञान की तुलना में निम्न स्तर का है तथा वर्तमान अथवा भविष्य की दृष्टि से अनुपयोगी है, उसकी चिन्ता करना व्यर्थ है। प्राचीन से अधिक भविष्यत की चिन्ता होनी चाहिए। परन्तु, अतीत का कोई ज्ञान या उसका कोई अंश यदि आज के ज्ञान की तुलना में श्रेष्ठ है, तो उसका आदर अवश्य किया जाना चाहिए; वह प्रगति का ही स्रोत है, क्योंकि वह भूत का ही नहीं, भविष्य का ज्ञान भी है। जो उन्नत ज्ञान मानव के ज्ञानकोश में आज नहीं है, उसे वह उन्नति करके भविष्य में प्राप्त करेगा। वह यदि किसी प्राचीन स्रोत से मिलता है, तो भी वरेण्य है। जो काल के द्वारा सीमित नहीं होता, वह ज्ञान शाश्वत है, उसे प्राचीन कहकर तिरस्कृत नहीं किया जा सकता।

भारतीय तत्त्वज्ञान के साथ भी 'प्राचीन' विशेषण जोड़ना अनावश्यक है; वह प्राचीन था, वर्तमान है और भविष्य में भी उसका कोई पूर्ण विकल्प निकल आने का संकेत अभी तो मिलता नहीं; इसके विपरीत भविष्य में उसके और भी महत्वपूर्ण बनकर प्रकाश में आने की संभावना है।

आधुनिक विज्ञान में भौतिक द्रव्य और ऊर्जा को एक ही तत्त्व के दो रूप मानने की स्थिति बीसवीं शती में ही बन सकी, किन्तु फिर भी जगत् में द्रव्य-कण या ऊर्जा-तरंग का मूल स्रोत क्या है, यह प्रश्न अनुत्तरित ही रहा। इतना ही नहीं, इस कणिका-तरंग-द्वैत वाले सूक्ष्म स्तर पर गति और स्थिति का एक साथ प्रकृष्ट मापन भी असम्भव सिद्ध हुआ, जिसके परिणामस्वरूप भौतिकी में प्रथम बार प्रामाणिक रूप में अनिश्चितता प्रकट हुई। यह तो सहज दृष्टि से भी प्रतीत होता है कि तरंग परिच्छिन्न कणिकामय रूप और आकाश के समान प्रशस्त अपरिच्छिन्न रूप की मध्यमान स्थिति होनी चाहिए। भारतीय तत्त्वज्ञान भौतिक द्रव्य, ऊर्जा-तरंग (प्राण-स्पन्द) और आकाश की एकता कभी से घोषित करता आ रहा है। उपनिषद् का कथन है कि यह सम्पूर्ण जगत् प्राण (ऊर्जा) के कम्पनों से निःसृत हुआ है। (कठोपनिषद् ६/२), यह भी कि सब भूत प्राण में से अभ्युदित होते और प्राण में ही विलीन होते हैं (छान्दोग्योपनिषद् १/११/५) तथा यह भी कि ये सब भूत आकाश से ही उत्पन्न होते और आकाश में ही विलीन होते हैं। आकाश ही इनका बड़ा 'पर' लोक है (छा० उ० १/९/१)। सौभाग्य से अब कुछ वैज्ञानिक इस सम्भावना को कुछ सीमा तक मानने लगे हैं। श्रौत वाङ्मय इस दिशा में बहुत सहायक हो सकता है। इतना अवश्य है कि उपनिषद् में उल्लिखित आकाश के तीन भेदों को देखते हुए द्रव्य या ऊर्जा की आकाश से एकता विशुद्ध भौतिक स्तर पर नहीं हो पायेगी; वहाँ मनस्तत्व का भी महत्व समझना और स्वीकार करना पड़ेगा तथा भौतिकी ऊर्जा-भौतिकी उसे ऊपर उठकर मनोभौतिकी के स्तर तक पहुँच जायेगी। आकाश के मनोमय स्वरूप (हृदयाकाश) को जानकर ही विज्ञानवेत्ता जान सकेंगे कि यौगिक सिद्धियों का क्या रहस्य है और भौतिकी में सूक्ष्मता या सापेक्षता-जन्य समस्याओं का क्या समाधान है।

ऐसे ही, ब्राह्मण ग्रंथों में सूर्य को देवों का स्रोत और रश्मियों को ही देव बताया है। वसु, रुद्र, आदित्य, विश्वेदेव, मरुद्गण और साध्य नामक गणदेवों से संबंधित कितना विपुल वैदिक साहित्य हमारे पास है जो विद्युच्चुम्बकीय ऊर्जा की रेडियो तरंगों, अवरक्त तरंगों, दृष्य किरणों, पराकासनी किरणों, एक्स किरणों तथा गामा किरणों के सम्बन्ध में कितना कुछ बता सकता है! ऐसे ही, एकल देवों के अध्ययन से मूलतः तरंगमय स्वभाव की मूल कणिकाओं के सम्बन्ध में कितने ही रहस्योद्घाटन हो सकते हैं। औपनिषदिक मधुविद्या के अध्ययन से द्रव्य-परमाणु की संरचना पर तथा देवासुर-स्पर्धा के विवरणों से ऊर्जा के धनात्मक और ऋणात्मक स्तरों पर प्रकाश पड़ सकता है। ये तो कुछ ही उदाहरण हैं, और भी कितने ही क्षेत्र हैं, जिनके संबंध में आज भी जानने के लिये भारतीय तत्त्वज्ञान में बहुत कुछ है। इन वैज्ञानिक रहस्योद्घाटनों के बाद ही सम्भवतः भारत में इतना आत्मविश्वास जाग सकेगा कि फिर वस्तुतः प्रतिगामी स्वभाव के लोग मिथ्या में प्रगतिशील कहलाकर नहीं इठला सकेंगे।

जिन द्रष्टाओं ने वस्तुतत्त्व का इतना प्रकृष्ट साक्षात्कार किया, उन्होंने मानवीय सन्दर्भ में भी कुछ मूलभूत सत्य

प्रकट किये हैं। सम्पूर्ण मानव-समाज–अपितु, सम्पूर्ण श्रेष्ठ मनोबौद्धिक सृष्टि–के एकात्मक स्वरूप का विराट् पुरुष के रूप में दर्शन और मानव-जीवन की समग्र–दैहिक, मानसिक, बौद्धिक, आत्मिक–सार्थकता के लिये साधारण भौतिक उपलब्धि से परम स्वरूप-लाभ तक पुरुषार्थ चतुष्टय का दर्शन ऐसे ही आधारभूत सत्य हैं जिनपर, देश-काल की परिस्थितियों के अनुसार निर्धारित होते हुए भी, मानव की सामाजिक और अन्य व्यवस्थाओं को अधिष्ठित होना चाहिए।

परन्तु, अभ्युदय और निःश्रेयस का कारणभूत पुरुषार्थ धर्म अब इस वैज्ञानिक युग में तर्क-वितर्क से परे मात्र विश्वास पर प्रतिष्ठित नहीं रह सकेगा। उसके औचित्य तथा स्वीकार्य स्वरूप के सम्बन्ध में बुद्धि को सन्तुष्ट करना पड़ेगा। कुछ आधुनिक विचारक धर्म का विकास दर्शन में और दर्शन का विकास विज्ञान में मानते हैं। परन्तु वास्तविक धर्म आदिम सभ्यता के अन्धविश्वास में भटकी हुई क्रिया नहीं है। वह अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि का हेतु, अतः प्रकृति और पुरुष के मध्य का सेतु है। धर्म का वास्तविक स्वरूप वह है, जिसका आधार विज्ञान और शीर्ष दर्शन है। अनेक विषमताओं के बाद भी उसके यथेष्ट स्थिति में प्रतिष्ठित होने की सम्भावनाएँ बढ़ रही हैं।

—हरिश्चन्द्र बर्थ्वाल

चतुर्भुज विष्णु

भारतीय संस्कृति की पारम्परिक आस्थाओं में वैष्णव प्रभाव की प्रधानता है, क्योंकि हमारे सांस्कृतिक साहित्य में सर्वाधिक लोकप्रिय रामायण और गीता या महाभारत के लीलापुरुष राम और कृष्ण भगवान विष्णु के अवतार माने जाते हैं। विष्णु संसार की स्थिति के कारण हैं। वे चतुर्भुज हैं और उनके चार हाथों में शंख, चक्र, गदा, पद्म शोभित होते हैं।

क्या अर्थ है विष्णु का ? कैसे सम्पूर्ण चराचर अपनी स्थिति के लिये उनपर निर्भर हैं ? विष्णु के चार हाथ क्यों हैं और उनमें शोभित वस्तुओं का क्या महत्व है ? इन सब प्रश्नों का कुछ न कुछ युक्तिसंगत उत्तर अवश्य होना चाहिए। विज्ञानमय सत्य में विश्वास रखने वाली भारतीय संस्कृति की यह विशेषता है।

विष्णु का अर्थ है—सब में प्रविष्ट तत्त्व, अन्तर्यामी, सर्व-व्यापी। सत् ही सर्वव्यापक है और चराचर जगत् में जो भी है वह सत् की ही अभिव्यक्ति है, अतः सभी की स्थिति का कारण सत् है। सत् चिन्मय है। सत् की अभिव्यक्तियाँ सम्भूति और असम्भूति तथा चित् की अभिव्यक्तियाँ विद्या और अविद्या हैं। सत् विष्णु है और ये चार प्राथमिक अभिव्यक्तियाँ ही विष्णु की चार भुजाएं हैं। चार हाथों में शोभायमान वस्तुएं तत्तद् अभिव्यक्तियों के ही प्रतीक हैं। सम्भूति या सृजन का प्रतीक चक्र, असम्भूति या विनाश का प्रतीक गदा, विद्या या उद्बोध का प्रतीक शंख और अविद्या या मृग-मरी-चिका का प्रतीक है कीचड़ में उगने वाला कमल। सत् चित्स्वरूप है, अतः शुक्लाम्बरधारी विष्णु शशिवर्ण हैं। परन्तु पौराणिक विष्णु का एक रूप नीलाभ भी है। नीलवर्ण की यह कल्पना आकाश की अनुरूपता पर आधा-रित है। आकाश सर्वभूतव्यापी है और पृथिवी से उसका प्रतीयमान वर्ण नीलाभ है। सभी वस्तुएं आकाश में स्थित रहती हैं, अतः कुछ सीमित अर्थ में आकाश भी विष्णु है और इसी सादृश्य के आधार पर विष्णु को नीलवर्ण भी मान लिया गया।

(त० वि०)

डा० प्रभाकर माचवे

भारतीय भाषाओं में संयोजक तन्तु

मनुष्य को पशु से अलग करने वाली शक्ति है भाषा, और स्वराज्य के इकतीस वर्ष बाद भी हमने उस विषय को यों उलझाकर रखा है कि 'मुंडे-मुंडे मतिर्भिन्ना'। भारत की राष्ट्रभाषा संविधान ने कभी से निश्चित कर दी; उसका स्वरूप भी निश्चित कर दिया था कि वह संस्कृत पर आधारित हिन्दी हो, जिसमें भारत की सभी भाषाओं से शब्द ग्रहण किये जायें। परन्तु यदि इस प्रश्न पर दो वर्ष पूर्व के भारत के विभिन्न राजनीतिक पक्षों की राय या नीति पूछी जाये तो बहुत मनोरंजक उत्तर मिलेंगे : १. सर्वोदयवादी—हिन्दी-हिन्दुस्तानी (यानी उर्दू); २. कांग्रेस (प्राचीन)—त्रिभाषा फार्मूला, हिन्दी-अंग्रेजी साथ-साथ चलें; ३. कांग्रेस (इ) दक्षिण भारतीय प्रदेशों में यदि हिन्दी का विरोध है तो अंग्रेजी का ही समर्थन सही, अवसरवादी; ४. समाज वादी (लोहिया)—अंग्रेजी-विरोधी, हिन्दी-समर्थक; ५. जनसंघ—हिन्दी; ६. साम्यवादी (रूस-समर्थक)—जनभाषा के नाम पर हिन्दी के भी राजस्थानी, मैथिली, भोजपुरी आदि 'मातृभाषाओं पर आधारित राष्ट्रकों (नेशनैलिटीज) के समर्थक; ७. साम्यवादी (चीन-समर्थक) — हिन्दी-विरोधी, प्रदेश-भाषा-बंगाल में बंगाली या केरल में मलयालम के समर्थक; ८. द्र० मु० कषगम और अन्नाद्रमुक—हिन्दी-विरोधी, केवल तमिल और अंग्रेजी; ९. अकाली-पंजाबी और अंग्रेजी; काश्मीर का शेख पक्ष—हिन्दी-उर्दू को समान दर्जा; १०. मुस्लिम लीग—उर्दू को उत्तर प्रदेश की, आंध्रप्रदेश की और काश्मीर की दूसरी भाषा मनवाने पर आग्रह; ११. स्वतंत्र पार्टी—अंग्रेजी; १२. नागालैण्ड पीपुल्स पार्टी—अंग्रेजी; इत्यादि। राजनीतिक पक्षवादिता से भाषा का प्रश्न कभी सुलझ ही नहीं सकता।

एक ओर हिन्दी-प्रदेश—उत्तर प्रदेश, बिहार, राजस्थान, मध्य प्रदेश, हरियाणा, और हिमाचल प्रदेश (प्रायः ४४ प्रतिशत जनसंख्या) हिन्दी के पक्ष में, दूसरी ओर धुर दक्षिण के राज्य (विशेषतः तमिलनाडु) अपनी भाषा और अंग्रेजी के पक्ष में; शेष कुछ हिन्दी के पक्ष में (जैसे महाराष्ट्र, गुजरात आदि), कुछ आधे-अधूरे पक्ष में। भाषा के प्रश्न पर यों देश में एकात्मता का अभाव यही दर्शाता है कि भाषा की बात राष्ट्रीयता से हटकर अब रोजी, रोटी, व्यवसाय-विज्ञान, 'अर्थकरी विद्या', भौतिक

सुविधा से जुड़ गयी। हम सबके सब 'हिज मास्टर्स वायस' के तवे हो गये हैं मानो। एक तर्क यह दिया जाता है कि सिनेमा की हिन्दी, बाजार हिन्दी (बाजारू ?) तो ठीक है—उसमें उर्दू के शब्द खासे हैं—संस्कृतनिष्ठ हिन्दी सरल नहीं होती, अतः वह त्याज्य है। इस तर्क के उत्तर में कुछ भाषाशास्त्रियों की राय हम देखें।

आचार्य रघुवीर ने १९४२ में (द्वितीय परिवर्धित संस्करण) एक पुस्तक लिखी थी 'सबकी बोली, अर्थात् भारतवर्ष की सामान्य भाषा की शब्दावली'। इसके प्राक्कथन में वे लिख गये हैं :

"भारतवर्ष के लोगों में एकता का सम्पादन करने के लिये भाषा की समानता बहुत ही आवश्यक है। इसको हमारे देशवासियों ने अच्छी प्रकार से नहीं समझा। इसमें धार्मिक झगड़ों को लाना मूर्खता है। . . . विदेशी शब्दों का लोगों के ऊपर आरोपण करना राष्ट्रीयता के विरुद्ध है। यदि बलात्कार से अथवा दुराग्रह से विदेशी शब्दों को स्वदेशी शब्दों का स्थान दिया गया तो अत्याचार होगा और यह यत्न अन्त में जाकर असफल रहेगा। कभी न कभी कोई कमाल अतातुर्क अथवा रजा शाह पहलवी के समान वास्तविक राष्ट्रीय नेता स्वदेशी शब्दों को समुचित स्थान देगा।"

"आंगल भाषा विदेशी है। इसका सम्बन्ध-तन्तु भी विदेशी रहेगा और विदेशी सम्बन्ध-तन्तु हमारी राष्ट्रीयता के मार्ग में रुकावट होगा। हम कभी भी आंगल भाषा को अपनी नहीं कह सकेंगे ? इसके अतिरिक्त सर्वसाधारण जन-समुदाय की यह भाषा बन ही नहीं सकती। इसके स्वप्न भी लेना मूर्खता है।. . . हमारी पीढ़ी के लोग, जिन्होंने अपनी शिक्षा आंगल भाषा में प्राप्त की है, चाहे जो भी समझें, आंगल भाषा का भविष्य भारतवर्ष में बड़ा अंधकारमय है। मुझे निश्चय है आंगल इस देश से प्रायः उड़ ही जायेगी।

"अब हम इस बात का विचार करेंगे कि आंगल भाषा का स्थान भारतवर्ष में किस भाषा को दिया जाये।. . . . प्राकृत जनों की भाषाओं का ध्यान रखते हुए भारतवर्ष के दो विभाग हैं : उत्तरापथ और दक्षिणापथ। किन्तु विद्या शब्दों के लिये भारतवर्ष एक है। उत्तरापथ तथा दक्षिणापथ की भाषाएं उच्च विचारों को प्रकट करने के लिये संस्कृत की अक्षय्य विशाल निधि का सहारा लेती हैं।"

(पृ० १३, १४, १६)

महापंडित राहुल सांस्कृत्यायन की राय हम आगे दे रहे हैं। पर उससे पूर्व संस्कृत की कुछ विशेषताओं को हम ध्यान में रखें। संस्कृत में 'भाषु व्यक्तायां वाचि' सूत्र है। वैसे ही अमरकोश में 'ब्राह्मी तु भारती भाषा गीर्वाग्वाणी सरस्वती' कहा गया। भाषा हमारे यहां केवल व्यवहार की 'फंक्शनल' और 'स्ट्रक्चरल' निर्जीव वस्तु नहीं थी। पाणिनि ने तो भाषा के जादू का यों वर्णन किया:

आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युंक्ते विवक्षया
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्
मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम् ॥

(आत्मा बुद्धि से संयुक्त होकर अर्थ व्यक्त करने के लिये मन को बोलने की इच्छा से प्रेरित करता है। मन शरीरस्थ अग्नि (वाक्) पर आघात करता है। वह अग्नि वायु को प्रेरित करता है और वायु उर में संचार कर मंद्र ध्वनि उत्पन्न करता है) इसीलिये वैदिक भाषा को 'छंद' कहा गया। संस्कृत भाषा में प्रतीकात्मकता और 'संस्कार' की महत्ता थी। बुद्ध के समय तक आते-आते संस्कृत के भी उदीच्य, प्राच्य, मध्य देशीय—तीन विभाग हो गये थे। वह लचीली भाषा थी। वह बाणभट्ट के समय की जटिल, क्लिष्ट-श्लिष्ट भाषा ही नहीं थी—उसमें उपनिषदों की सूत्रात्मकता थी; गीतगोविंद की गेयता थी, तो ब्रह्मसूत्रों की दार्शनिक गहराई; धन्वंतरि और सुश्रुत-चरक की, वराहमिहिर और कौटिल्य की ऐहिक चिन्ता भी थी। संस्कृत में बहुआयामी विविधता थी। और इसे जानने के लिये थोड़ा संस्कृत भाषा का इतिहास देखें।

संस्कृत व्याकरणेतिहास में कितनी सामग्री है! वैसे तो तैत्तिरीय संहिता में (षष्ट ४.७) इंद्र के पास देवता जाते हैं और वाणी के विभाजन की कथा है। पर संस्कृत

व्याकरण का सर्वप्रथम उल्लेख 'गोपथ ब्राह्मण' (१.२४) में मिलता है। पाणिनि के 'अष्टाध्यायी' में कई पूर्वाचार्यों का उल्लेख है, यथा—आपिशालि, काश्यप, गार्ग्य, मालव, चाक्रवर्मण, भारद्वाज, शाकटायन, शाकल्य, स्फोटायन आदि। पाणिनि आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व हो गये; युवान-च्वांग ने उनकी मूर्ति देखी थी। पाणिनि से पहले निरुक्तकार यास्क हुए। कात्यायन, सुनाग, भारद्वाज, व्याघ्रभूति, वैयाघ्रपद्य ने पाणिनि के ग्रंथ पर वार्तिकाएँ लिखीं। सबसे बड़ी कात्यायन की १२४५ पाणिनीय सूत्रों पर वार्तिका है, जो पंतजलि के 'महाभाष्य' में समाविष्ट है। ईसा की पांचवीं शताब्दी में चंद्राचार्य ने 'महाभाष्य' के अध्ययन का पुनरुज्जीवन किया। इसी क्रम में हैं—कैयट, बारहवीं शती के काश्मीरी भाष्यकार की 'प्रदीप' वृत्ति; नागेश का सत्रहवीं शती में 'प्रदीप' पर भाष्य, जिसे उसने 'उद्योत' कहा है; भर्तृहरि की 'महाभाष्य-दीपिका', जिसका उल्लेख हेलाराज ने लिपडी में किया है। पाणिनि, कात्यायन और पंतजलि—इन मुनित्रय के बाद विशेष महत्वपूर्ण है—भर्तृहरि की 'महाभाष्य-दीपिका' और 'वाक्यपदीयम' या 'त्रिकांडी' (इसके तीसरे कांड पर काश्मीरी पंडित पुण्यराज की टीका है)। वृषभदेव ने 'पद्धति' में इसपर विस्तृत विचार किया है। अष्टाध्यायी पर तो कई वृत्तियाँ हैं : वामन और जयादित्य की 'काशिकावृत्ति'; विमलमति की 'भाग-वृत्ति'; पुरुषोत्तमदेव (१६वीं शती) की 'भाषा-वृत्ति'; शरणदेव (बौद्ध विद्वान) की 'दुर्घट-वृत्ति' (११७२ ईस्वी); अप्पय्य दीक्षित का 'सूत्र-प्रकाश'। ध्यातव्य बात यह है कि पाणिनि ठहरे पेशावर के और उनपर टीका लिखने वाले बौद्ध भी हैं; जैन भी; सनातन धर्मावलंबी भी। इस धुर उत्तर के वैयाकरण पर भाष्य लिखने वाले आंध्र के रामचंद्र हैं (प्रक्रिया-कौमुदी) और तमिल-नाडु के अप्पय्य दीक्षित। बाद के भट्टो जी दीक्षित, हरि दीक्षित, नागोजी दीक्षित आदि तो प्रसिद्ध हैं ही। संस्कृत व्याकरणेतिहास की इस झलक से पता चलता है कि उत्तर-दक्षिण का भेद संस्कृत-शोध और विद्वत्ता में एकदम व्यर्थ था।

जो बात संस्कृत-व्याकरणकारों के बारे में सही है, वही बात संस्कृत-कोशकारों के बारे में भी द्रष्टव्य है। निघंटु पर यास्क का 'निरुक्त' (८००-७०० ईसापूर्व) और देवराज यज्वन (१२वीं शती) का 'निघंटु-निर्वचन'। दुर्गाचार्य और स्कंदस्वामी—ये दो नाम ही उत्तर-दक्षिण की एकता दर्शाते हैं; दोनों ने निरुक्त पर भाष्य लिखे। व्याडि, कात्य, उत्पल, धन्वंतरि के बारे में कुछ पता नहीं चलता, पर 'अमरकोश'कार अमरसिंह और रभसपाल, शाश्वत, महाक्षपणक, यादवप्रकाश जैसे कोशकारों के ग्रंथ उपलब्ध हैं। शाश्वत का 'अनेकार्थसमुच्चय' या हरिपेण का 'पर्यायमुक्तावलि' इस बात के प्रमाण हैं कि अभिधानशास्त्र (लेक्सिकोग्राफी) भी हमारे यहाँ कितनी विशेषता प्राप्त कर चुकी थी।

अकेले 'अमरकोश'पर भाष्यकारों के नाम लें तो वे काश्मीर और काशी से लगाकर दक्षिण भारत तक सब स्थानों के होंगे : बौद्ध सुभूतिचंद्र की 'कामधेनु' (वे शायद बंगाल के सुभूतिपाल थे); काश्मीरी क्षीरस्वामी का 'अमरकोशोद्घाटन' (ग्यारहवीं शती का उत्तरार्द्ध); 'टीका-सर्वस्व', बंगाली सर्वानन्द (११५९ ईस्वी); 'अमरकोश-टीका', बंगाली त्रिलोचनदास (१२वीं शती); परमानन्द (पूर्व बंगाल के, चौदहवीं शती) की 'अमरकोश-माला', बृहस्पति या रायमुकुट की पंद्रहवीं शती की 'पदचंद्रिका' (राढ़, बंगाल के निवासी), नारायण चक्रवर्ती की 'पदार्थ-कौमुदी' या 'अमरकोश पंजिका' (१६१८ ईस्वी०) और भारतसेन की 'मुग्ध बोधिनी' (१६५० से १६८० के बीच) भी बंगाल से ही थी; भानु जी दीक्षित की 'व्याख्या-सुधा', बघेलखंड की। महाराष्ट्र के महीधर ने 'अमरकोश-विवेक' सत्रहवीं शती के उतरार्द्ध में लिखा। इसमें कई मराठी शब्द दिये गये हैं—'इति लौकिकभाषायाम्', या 'इति प्रसिद्धेम्' के साथ। लिंगभट्ट तेलुगु ब्राह्मण थे जिन्होंने 'अमरकोश पदवृत्ति' लिखी; तंजावूर से प्राप्त पांडुलिपियों के आधार पर आउफ्रेष्ट उन्हें अठारहवीं शती का बताते हैं, पर (स्व०) डा० वें० राघवन उन्हें मल्लिनाथ के पूर्व का—१४३० ईस्वी का-बताते हैं। गोमन्तक के महेश्वर सुखठणकर ने अठारहवीं शती में 'शिशु-बोधिनी' नामक टीका अमरकोश पर लिखी। भारत के चारों कोने—काश्मीर, बंगाल, दक्षिण भारत, गोआ-महाराष्ट्र—यहाँ एक ही कोश पर एक साथ जुट गये हैं। भारतीय एकात्मकता का और कौनसा उदाहरण चाहिए ?

संस्कृत-कोश-कार्य से ही बात चली तो हेमचंद्र सूरि

जैसे जैन की 'अभिधान चिन्तामणि' और 'अनेकार्थ-संग्रह' जैसी पुस्तकें, और बाद में महेश्वर का 'विश्व-प्रकाश', धनंजय का 'नाम-माला', मेदिनीकर का 'मेदिनी कोश', केशव का 'नानार्थार्णव-संक्षेप', महीप का 'अनेकार्थ-तिलक' इरुगप्पदण्डाधिनाथ की 'नानार्थ-रत्न-माला' और अजयपाल का 'अनेकार्थकोश' इस बात का स्मरण कराते हैं कि यह काम न केवल विविध प्रदेशों में बढ़ा, अपितु विविध आयामों में बढ़ा। वनस्पतियों, ओषधियों, पशु-पक्षियों के कई नाम कई वर्गों में (यथा—सुपर्णादि-वर्ग, घृतादि-वर्ग, भूम्यादि-वर्ग, मद्यादि-वर्ग, आदि) और विभागों में व्यवस्थित रूप से विभाजित मिलते हैं। अकेले 'मदन विनोद निघंटु' (१३७४ ईसवी) में मदन-पाल ने २,२५० श्लोक दिये हैं, जिनमें सारी ओषधियों का वर्णन है। जो लोग यह कहते हैं कि संस्कृत एक बंद मंजूषा रही और उसके शब्दकार कुंद चित्त या संकुचित बुद्धि के थे, उन्हें पता नहीं कि बिहारी कृष्णदास ने 'पारसी प्रकाश'; बेदांगराय ने 'पारसी प्रकाश', दल-पतिराय ने 'यवन-परिपाटि-अनुक्रम' और रघुनाथ पंडित ने छत्रपति शिवाजी के लिये 'राज्य-व्यवहार-कोश' बनाया, जिसमें फारसी और संस्कृत शब्दों के साथ-साथ प्रचलित लोकभाषा के पर्यायवाची भी हैं।

हमने केवल संस्कृत के व्याकरण और कोश-ग्रंथों के ही उद्धरण और उदाहरण ऊपर दिये हैं। अर्थशास्त्र, धर्म-शास्त्र, कामशास्त्र, शिल्पशास्त्र आदि अनेक लौकिक जीवन के शास्त्रीय अध्ययनों में हमारी आज की भाषाओं में प्रचलित शब्दों के मूल मिल जायेंगे। अभी भारतीय मुद्राओं पर आकाशवाणी कलकत्ता से एक वार्ता के प्रसंग में मुझे खोजने पर पता लगा कि विदेशी शब्द दम्म से दमड़ी बना, और पणम् भी इसी तरह से आयातित फिनिशिया का शब्द था। सरदार पणिक्कर 'पण्य' वस्तुओं को वहीं से आयातित कहते थे। संस्कृत बाद में जो कुछ बन गयी हो, पहले वह एक खुली भाषा थी: चीन से 'चीनांशुक' बना लिया, यवनों से 'यवनिका' ले ली। वह पुरानी पाचन-शक्ति हमें अपनी भाषाओं में पुनः निर्मित करनी होगी। शब्दों को अपनाना, आत्मसात् करना होगा, जैसे सभी जीवंत भाषाएं करती हैं। आकाशवाणी के संस्कृत समाचारों में कई नये वैज्ञानिक शब्द हम ज्यों के त्यों ले ही रहे हैं। यही स्वस्थ परंपरा है।

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन के संस्कृतनिष्ठ हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के आग्रह पर उन्हें तब के साम्यवादी दल ने निष्कासित कर दिया। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के जनवरी, १९४८ के बंबई अधिवेशन के अध्यक्ष पद से उन्होंने 'उर्दू के भारतीयकरण' की बात कही थी। उसपर बहुत लंबा विवाद हुआ। शायद साम्यवादी दल के बौद्धिकों में उस बात पर पुनर्विचार भी किया गया।

"कहीं यह कहकर भड़काया जाता है कि हिन्दी जैसी एक तुच्छ भाषा कैसे सारे भारत की राष्ट्रभाषा हो सकती है, राष्ट्रभाषा बनाना है तो बंगला, मराठी, गुजराती, तमिल, तेलुगु जैसी समुन्नत भाषाओं को यह पद दिया जाये। और कहीं पर यह कहते हैं कि क्यों एक राष्ट्रभाषा हो। . . . उर्दू जिस अरबी लिपि में लिखी जाती है, यदि सुगम होती तो वह तुर्की और मध्य एशिया के देशों से निकाली न जाती। रही उर्दू भाषा, उसका अर्थ है साठ-सत्तर प्रतिशत संस्कृत के तद्भव-तत्सम शब्दों की जगह उससे अधिक परिमाण में अरबी फारसी शब्दों को स्वीकार करना। यही तद्भव तत्सम शब्द हैं, जो भारत की सभी भाषाओं को एक दूसरे के समीप लाते हैं—बंगला, मराठी, गुजराती, तेलुगु आदि सभी भाषाओं में ये संस्कृत शब्द एक समान मिलते हैं। इन साठ-सत्तर प्रतिशत शब्दों को निकालकर अरबी-फारसी के अपरिचित साठ-सत्तर शब्दों को रखना कौन सा अविकृत मस्तिष्क ठीक समझ सकता है?

"नेहरू जी हिन्दी में संस्कृत शब्द ठूंसने की बात कहते हैं। उन्हें मालूम नहीं ठूंसना किसे कहते हैं। मलयालम में ८० और ९० प्रतिशत संस्कृत शब्द मिलते हैं। व्यर्थ ही संस्कृत शब्दों का ठूंसना या तो सस्ती पंडिताई है या भारी अदूरदर्शिता और हठधर्मी का परिचय देना है।. . . . . हम पेंसिल को आलेखनी, स्टूल और बेंच को प्रौष्ठ, रेल को धूमयान नहीं बनाना चाहते। किंतु ऐसे शब्द हमारे परिभाषा-कोश में सौ में नहीं, हजार में एक होंगे। बाकी सारे शब्द सभी प्रांतीय भाषाएं संस्कृत से लेंगी। शासन-शब्दकोश तैयार करते समय हमने बंगला, मराठी, तथा दूसरी

भाषाओं में हुए प्रयत्नों का उपयोग किया।...अब अंग्रेजी अपने खोये स्थान को नहीं प्राप्त कर सकती, न इंगलैंड के बादशाह का सिक्का यहाँ चलाया जा सकता है।"

(साहित्य निबन्धावलि : राहुल सांकृत्यायन, पृ० १८८ और पृ०२०१; मई से अगस्त १९४८ के वक्तव्य)

भाषा के प्रश्न को लेकर पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' अपने निबंधों में गांधी और नेहरू से उलझ गये थे। लखनऊ के प्रगतिशील लेखक-संघ में हिन्दी को लेकर यशपाल, अमृतलाल नागर और भगवतीचरण वर्मा को उर्दू लेखकों (विशेषतः उन बंबैया लेखकों से जो उर्दू को उत्तर प्रदेश की दूसरी भाषा मनवाने के लिये हठ कर रहे थे, यथा-स्व० कृशन चंदर, साहिर लुधियानवी आदि) से अलग होना पड़ा। उत्तर प्रदेश में ही एक बनारस है, जहाँ कबीर और तुलसीदास, भारतेंदु और राजा शिव-प्रसाद सितारे हिंद, जयशंकर 'प्रसाद' और प्रेमचंद संस्कृतनिष्ठ और उर्दूई शैलियों में लिखते रहे और कभी दोनों में विरोध नहीं हुआ—दोनों बराबर 'सह-अस्तित्व' बनाये रखते रहे; वहीं इलाहाबाद विश्वविद्यालय में एक ही जाति के दो डाक्टर विद्वान विचारों में टकरा गये। डा० धीरेन्द्र वर्मा ने लिखा—"उर्दू हिन्दी की शैली मात्र है"; डाक्टर ताराचन्द ने लिखा—"खड़ी बोली हिन्दी उर्दू में से ही निकली शैली मात्र है।"

यह सब हिन्दीभाषी प्रदेशों में और विशेषतः उत्तर प्रदेश में ही क्यों होता है? केरल के मुसलमान मलयालम में लिखते हैं (जैसे मुहम्मद बशीर); बंगाल के मुसलमान बंगाली में—और उनमें नजरुल इस्लाम, हुमायूं कबीर, सैयद मुज्तबा अली, अबू सईद अय्यूब जैसे श्रेष्ठ नाम हैं; मराठी में अमर शेख, डा० यू० म० पठान और हमीद दलवई ने लिखा है—और ऐसे नाम सब प्रांतीय भाषाओं में लिये जा सकते हैं (असमिया में सैयद अब्दुल मलिक, कन्नड में निसार अहमद, गुजराती में गनी दहीवाला, आबिद सुरती, गुलाम महम्मद शेख, आदि), तब हिन्दी से उर्दू की क्यों दुश्मनी हो? आज हिन्दी में एक दर्जन से अधिक उर्दूभाषी सशक्त लेखक-लेखिकाएँ हैं: राही मासूम रजा, मुहम्मद 'हुनर' शानी, मेहरुन्निसा परवेज, नईम, इब्राहीम शरीफ (नहीं रहे), इसराएल, शम्सुद्दीन, बशीर एहमद 'मयूख', ए० हमीदुल्ला, सुहैल अजीमाबादी, डा० अयूब 'प्रेमी', डा० मलिक मुहम्मद, डा० गुलाम रसूल, डा० माजदा असद, 'बेकल' उत्साही, और भी कई होंगे। मुझे इस समय यही नाम याद आये, सो लिखे। होते हुए इतने लोगों के, जो हिन्दी में लिख रहे हैं और पचासों नागराक्षरों में उर्दू का लिप्यन्तर कर रहे हैं, हिन्दी-उर्दू के भेद की झूठी बात बार-बार अलगाववादी राजनीतिज्ञ क्यों उठाते हैं?

हमें दुख से कहना पड़ता है कि यह प्रश्न कुछ राजनीतिज्ञों द्वारा अनावश्यक रूप से उलझाया गया है। उसमें उनका न्यस्त स्वार्थ निहित है। मैं सन् इकसठ में अमेरिका से लौटते हुए जेरूसेलम गया था, जौरडन (योरदान) वाले भाग में; काहिरा भी सात दिन अटक गया था—लौटती हुई विमान-सेवा में हड़ताल थी। तब मैंने अरबी और फारसी के अंतर को जाना। एक कहवाघर में एक पाकिस्तानी, मुझे उर्दू बोलते देखकर, मेरी शेरवानी से आकृष्ट होकर, ले गया। काफी बातें हुईं। मैंने चलते हुए 'खुदा हाफिज' कहा तो वह बोला—यहाँ यह फारसी खुदा नहीं चलता। आप कहिए 'फ़ज़ले अल्लाह'। 'ईश्वर की कृपा' का यह भाषा-भेद मैं तब से नहीं भूला हूं। इस्लाम सब देशों में एक सा नहीं है। इस्लामी देशों में भी अंतर है, जैसे—योरदान में एक होटल में नासिर की 'तकरीर' बूढ़ा नानबाई युवकों को रेडियो पर सुनने नहीं दे रहा था। इस्लाम में भी प्राचीन और नवीन का संघर्ष है, जिसका प्रतिबिंब उर्दू, फारसी, अरबी साहित्यों में पड़ता रहा है। इसलिये वहाँ के सभी शासकों को, या उनकी भाषा-नीतियों को एक बटखरे से तौलना गलत होगा। फरवरी, १९७३ में मैं ढाका में सात दिन था, जब मुजीबुर्रहमान वहाँ के प्रमुख नेता थे। उर्दू के प्रश्न को लेकर बांगला देश अलग हुआ था। भाषा देश के लिये जीवनमरण का प्रश्न कैसे बनती है, यह मैंने बहुत निकट से वहाँ देखा, सुना, जाना।

भारत में भाषा सम्बन्धी विचारों के आधुनिकीकरण के विरोध में एक ओर वे लोग हैं जो संस्कृत को पुनः राष्ट्र-भाषा बनाना चाहते हैं। तब बौद्ध उसे किस तरह ग्रहण करेंगे, यह सोचने की बात है। उनका तर्क है कि इसराएल में हिब्रू (इब्रानी) भाषा का पुनरुज्जीवन हुआ, भारत में

क्यों न हो ? इसरायल में एक भाषा, एक धर्म-सम्प्रदाय के लोग हैं; उसका आयतन कितना छोटा है ! और भारत में न केवल आकार, प्रकार व विविध मत-विश्वासों, अपितु भाषा-उपभाषाओं के कितने सांस्कृतिक स्तर हैं ! दूसरी ओर उर्दू को और भी 'सकील' बनाने वाले अदीब और सियासतदाँ हैं। उनके लिये हिन्दी से अधिक निकट अंग्रेजी है। (स्व०) डा० वें० राघवन संस्कृत का कार्य अंग्रेजी में करते थे। डा० रा० ना० दांडेकर ने भी मराठी से अधिक अंग्रेजी में लिखा है। अरबी संस्कृति और अध्ययन-केन्द्र का मुखपत्र दिल्ली से अंग्रेजी में निकलता है। दिल्ली विश्वविद्यालय के फारसी विभाग के विद्वान अंग्रेजी में काम करते रहते हैं। यह प्राचीन भारतीय भाषाओं का विदेशी भाषा द्वारा 'उद्धार' कब तक स्वतंत्र भारत में चलता रहेगा।

सैयद सज्जाद हैदर (खुतबये-सदारत, हिंदुस्तानी एकेडेमी, १९३८ में) फरमाते हैं :

"उन फारसी अल्फाज से, जिन्हें हम फारसी समझकर फारसी में इस्तेमाल करते हैं, अहले ईरान उनपर चौंकते हैं और हमारी हँसी उड़ाते हैं। यानी वे अल्फाज फारसी नहीं हैं। हमने उर्दू में उनको दूसरे मानी दे दिये हैं. . . । आप उनको अपनी जबान से निकाल दीजिए, यहाँ से निकलकर वह बिल्कुल निघरे हो जायेंगे; क्योंकि फारसी या अरबी उन मानी में उन्हें कबूल न करेगी।"

यह एक उद्धरण है उर्दू वालों के लिये, जो उर्दू को फारसी अरबी बनाते जा रहे हैं। इसे कहते हैं मराठी में 'मैके से ही उपहार' (माहेरचा आहेर)।

अन्त में इस हिन्दी-उर्दू-संस्कृत-फारसी चर्चा में मैं अंग्रेजी की बात अवश्य लाना चाहता हूं। भारतीय भाषाओं में समान तन्तु का काम डेढ़ सौ वर्षों की अंग्रेजी की दासता में तथाकथित अंग्रेजीवादियों ने बहुत निकालना चाहा, वह बात बनी नहीं। डा० लोहिया की बात बिल्कुल सच थी कि भारत की प्रगति इसलिये नहीं हो पा रही है कि उसकी योजनाएँ एक विदेशी भाषा 'अंग्रेजी' में होती हैं। दुर्भाग्य से हमारा भाषा-चिन्तन, सरकारी स्तर पर भाषा-संबंधी संस्थाएँ, सब अंग्रेजी में काम कर रही हैं। ग्रियर्सन के 'लिंग्विस्टिक सर्वे' के आगे हम बढ़े ही नहीं। और उसमें आ गये (स्व०) सुनीतिकुमार चैटर्जी, जो उनका बस चलता तो हर बोली और वनवासी-भाषा को भी साहित्य अकादमी से 'साहित्यिक मान्यता' दिलवाकर ही चैन पाते। परिणाम यह है कि अंग्रेजी का आतंक हमारे 'राष्ट्रीय' नेताओं पर भी भरपूर है। अब कुछ समादरणीय नेताओं का नाम लेना पड़ रहा है, विवशता है : श्री मोरारजी देसाई आत्मकथा के तीन खंड अंग्रेजी में लिखते हैं। उनके आदर्श 'बापू' ने 'सत्यनो प्रयोगो', गुजराती में लिखी थी, जिसका महादेव भाई ने अंग्रेजी में अनुवाद किया। चूंकि नेहरू और डा० राजेन्द्र प्रसाद ने अंग्रेजी में आत्मकथाएँ लिखीं, 'कृष्णायन' कार द्वारिका-प्रसाद मिश्र भी अपनी जीवनी अंग्रेजी में कई खंडों में लिखते हैं। विजयलक्ष्मी पंडित लिखें तो समझ में आता है ; उन्हें विदेशी पाठकों का ध्यान भी आकृष्ट करना है। पर हमारे 'खालिस समाजवादी' भी उसी भाषा का आश्रय लेते हैं। मधु लिमये विदेश-यात्रा पर लेख अंग्रेजी में 'इलस्ट्रेटेड वीकली' में लिखते हैं। साम्यवादी तो ठीक हैं—हीरेन मुखर्जी ने अपने संसद-संस्मरण अंग्रेजी में लिखे तो बंगला में भी आत्मकथा लिखी। नंबूद्रीपाद ने भी मलयालम में लिखा। सोहन सिंह 'जोश' ने पंजाबी में अपनी जीवनी लिखी। पर मधोक जी को या सोंधी जी को अंग्रेजी में लिखने का क्यों मोह हो ? स्वदेशी चिन्तन विदेशी परिधान में कब तक ? अधिक उदाहरण बढ़ाना ठीक नहीं, पर हिन्दी के बारे में अंग्रेजी में लिखने वाली एक महिला, जिनकी मातृभाषा हिन्दी है, श्रीकान्त वर्मा की कविता पर जब अपनी 'एंबेलिश्ड' कमेंटरी देती हैं तो हँसी आये बिना नहीं रहती। मैंने यूरोप में कई भारतीय स्त्रियों को अर्द्ध विदेशी, अर्द्ध भारतीय परिधान और प्रसाधन में देखा है। वे किसे मूर्ख बना रही हैं ?

यह मानसिक दासता अब समाप्त हो जानी चाहिए। हिन्दी के लेखक और सेवक को गिड़गिड़ा कर अंग्रेजी में या अन्य भारतीय भाषा में हिन्दी की बात को, 'अपौलोजेटिक' ढंग से प्रस्तुत करने की यह दयनीयता छोड़ देनी चाहिए। मैं बंगाल में विगत तीन मास से हूं—देखता हूं कि हिन्दीभाषी बंगाली से अनावश्यक रूप से आतंकित है। व्यावहारिक सुविधा के लिये वह बंगला अपनाये,

यहाँ तक तो ठीक है, पर वह अपने आपको सांस्कृतिक हीन ग्रंथि का शिकार मानता है। अतः, क्या लेखन (कविता, कहानी, उपन्यास) और क्या रंगमंच या अन्य सांस्कृतिक समारोहों में वह बंगाली परंपरा की नकल उतारना चाहता है। नाटक यहाँ प्रायः बंगला से अनूदित होकर खेले जाते हैं। यानी ब्रेश्ट का भी नाटक मूल जर्मन से छोड़िए—जर्मन से अंग्रेजी, अंग्रेजी से बंगला और तब बंगला से हिन्दी अनुवाद में आता है। ऐसी हमारी आत्म-विश्वासहीनता पर हँसें या रोयें? और बंगाली-भाषी हिन्दी-भाषी की इस मनोग्रन्थि को बहुत अच्छी प्रकार से जानता है। मैंने कई बंगाली लेखकों से बातें की हैं। वे हिन्दी पढ़ते हैं, उसकी अच्छाई-बुराई जानते हैं। ज्ञानपीठ पुरस्कार के मूर्धन्य अवर परिषद् के सदस्यों से मेरी बातें हुई हैं। वे अहिन्दी भाषी सदस्य कहते हैं—'हिन्दी' पुरस्कार के मामले में हम कुछ नहीं कहते। उनकी जैसी रुचि है, वे जानें। बंगाली अंग्रेजी से अत्याधिक प्रभावित हैं—नीरद चौधरी, षष्ठीव्रत, प्रीतीश नंदी—सभी बंगाली हैं। पर रवीन्द्रनाथ ने 'गीतांजलि' का अनुवाद भले ही किया हो, अंग्रेजी में केवल एक कविता लिखी थी—'द चाइल्ड'। अंग्रेजी से अनुवाद भी नहीं किये। कबीर की सौ कविताएँ अनूदित कीं। टी० एस० ईलियट की एक। माइकेल मधुसूदन और बंकिमचंद्र पहले अंग्रेजी में लिखते थे—फिर आ गये बंगला में—अपनी मातृभाषा में लिखने लगे। स्वामी विवेकानंद का कार्यक्षेत्र विदेश में था तो व्याख्यान अंग्रेजी में दिये—कविताएँ बंगला में लिखीं।

यह सब कहने का अभिप्राय यह है कि भारतीय भाषाओं का संयोजक तंतु हिन्दी ही हो सकती है, ऐसा मेरा विगत चालीस वर्षों से साहित्य-क्षेत्र में अनुभव का सार और विश्वास है। मैं हिन्दी किसी पर थोपूंगा नहीं, लादूंगा कभी नहीं। पर उसका योग्य स्थान उसे दूंगा। मेरी मातृभाषा हिन्दी नहीं है, वह मेरी मातृदेश-भाषा है। वह राष्ट्रभाषा है, यह मैं कभी नहीं भूल सकता। उसका स्थान न अंग्रेजी ले सकती है, न संस्कृत, न कोई एक प्रादेशिक भाषा, यह सूर्यकिरण की भांति स्पष्ट है।

निदेशक, भारतीय भाषा-परिषद्
३६, शेक्सपियर सरणी, कलकत्ता-७०००१७

योगः कर्मसु कौशलम्

भगवान विष्णु के संबंध में पौराणिक रूपक है कि वे क्षीर-सागर में शेष-शय्या पर योगनिद्रा में लीन रहते हैं। विष्णु सम्पूर्ण सृष्टि के पालनकर्त्ता हैं–सूक्ष्म कण से लेकर बृहदब्रह्मांड तक सृष्टि में जो कुछ है, उस सब की स्थिति भगवान विष्णु के ही बल पर है। पर जो स्वयं सदैव योगनिद्रा में सोये हों, वे सबके त्राता कैसे हो सकते हैं? इस समस्या का समाधान एक विज्ञानविद् योगी ने इस प्रकार किया—

भगवद्गीता के अनुसार कर्म में कुशलता ही योग है (योगः कर्मसु कौशलम्)। आधुनिक विज्ञान में कर्म-कौशल या दक्षता का अर्थ है—किये हुए प्रयत्न से सम्पन्न होने वाले कार्य की दर, अर्थात्—

$$\text{दक्षता} = \frac{\text{सम्पन्न हुआ कार्य}}{\text{लगाया गया बल या किया हुआ प्रयत्न}}$$

गणित में किसी भिन्न का मान बढ़ने के दो हेतु हैं—अंश का बढ़ना या हर का घटना। अंश जितना ही बड़ा होता जायेगा, भिन्न का राशिमान उतना ही बढ़ता जायेगा, यथा—४/२ से ८/२ बड़ी राशि है। इसी प्रकार हर के छोटा होने पर भी राशि बढ़ेगी, यथा—८/४ से ८/२ बड़ी राशि है। अतएव, दक्षता का अभिप्राय है—कम प्रयत्न के द्वारा अधिक कार्य सम्पन्न होना। आधुनिक प्रौद्योगिकी में यंत्रों की दक्षता का इसी प्रकार निर्धारण होता है। उपर्युक्त समीकरण में दक्षता या कर्म-कौशल को यदि हम अधिकाधिक बढ़ाते जाना चाहें तो चरम स्थिति क्या होगी? दाहिनी ओर अंश अर्थात् सम्पन्न होने वाला कार्य बढ़ते-बढ़ते अनंत हो जाय और हर या किया जाने वाला प्रयत्न घटते-घटते शून्य हो जाय। अर्थात् कर्म-कौशल की चरम स्थिति यह है कि कुछ भी न करते हुए भी सब कुछ हो जाय। यह योग की चरम अवस्था है, जिसके दृष्टान्त हैं भगवान विष्णु, जो प्रकटतः कुछ नहीं करते—योग-निद्रा में लीन रहते हैं—परन्तु उनके अनन्त योगैश्वर्य का प्रभाव इतना अद्भुत है कि उसी के कारण चराचर विश्वब्रह्मांड स्थित है। □

डा० एन० रवीन्द्रनाथ

राहुलजी के उपन्यासों में इतिहास पर भौतिकवादी द्वन्द्व-प्रक्षेपण

जीवन के प्रति (अतः इतिहास के प्रति भी) भौतिक दृष्टिकोण रखकर राहुल सांकृत्यायन ने अपने ऐतिहासिक उपन्यासों में अतीत के समाज का विश्लेषण किया है। उनके अतीत-चिन्तन में तर्क-वितर्क तथा पुनरवलोकन का तत्त्व प्रमुख है। उनका मत है कि चिरपरिवर्तन विश्व का अटल नियम है और उस अनिवार्य नियम को स्वाभाविक रूप से ग्रहण करना उचित भी है। उनके अनुसार विगत में मनुष्य अपने पारंपरिक, रूढ़ चिन्तन के कारण जीवन की व्यर्थता का जो भार ढोता रहा, वह उन्हें असह्य है। वे इतिहास को सामने रखकर अपनी 'सही चिन्तन और मनन' की दृष्टि पाठक को देकर उसे अतीत की आलोचना करने की प्रेरणा देते हैं। वे बताते हैं कि हमारे पूर्वज राजा, जीवन में अलौकिक तत्त्वों को मान्यता देकर स्वार्थ-संगठन करते रहे हैं और वे तथा उन जैसी विचारधारा वाले लोग समाज को अन्धकाराच्छादित कर प्रवंचित और वंचित करते रहे हैं। राहुल जी इस दृष्टि से "अतीतकालीन जीवन को पढ़ते हैं और उसमें से 'बहुजनहिताय' पक्ष को उभारकर, निखार कर उसे वर्तमान का दिग्दर्शक बनाना चाहते हैं।"[1]

अपने विशिष्ट जीवन-दर्शन को प्रतिपादित करने के उद्देश्य से राहुल जी ने ऐतिहासिक घटनाओं की भौतिक व्याख्या करते हुए कल्पना का सहयोग अवश्य लिया है, किन्तु उनके उपन्यासों में ऐतिहासिक पक्ष क्षीण नहीं हुआ है, वह प्रबल है। उनके उपन्यासों में 'दिवोदास' का कथासूत्र कुछ ऋग्वेदिक ऋचाओं के रूप में उपलब्ध है। 'सिंह सेनापति' और 'जय यौधेय' से संबद्ध सामग्री इतिहास-ग्रन्थों में अत्यल्प रूप में मिलती है। 'मधुर स्वप्न' और 'विस्मृत-यात्री'-संबंधी तथ्य विदेशी साहित्य में मिलते हैं। इतिहास से उन्होंने उन तत्त्वों व उन पात्रों को चुन लिया है जो उनके जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति के लिये सहायक हैं। कहा गया है कि "जिन ऐतिहासिक पात्रों की ओर लेखक ने संकेत किया है तथा जिनसे प्रेरणा ग्रहण की है, वस्तुतः वे उनके जीवन-दर्शन के प्रतीक हैं।"[2]

सिंह सेनापति में ऐतिहासिक पात्रों का वर्गगत रूप

ऐतिहासिक पात्रों की व्यक्तिगत विशेषताओं की रक्षा

करते हुए उन्हें वर्गगत रूप प्रदान करने की क्षमता राहुल की अपनी विशेषता है। उनकी इस क्षमता पर डा० नागेन्द्र ने लिखा है कि 'सिंह सेनापति' और 'जय यौधेय' क्रमशः लिच्छविगण और यौधेयगण के सामूहिक जीवन-संघर्ष का चित्रण करते हैं। जैसा कि इनके नामों से स्पष्ट है। .....इन दोनों उपन्यासों में प्रधानतः एक-एक व्यक्ति के जीवन-वृत्त का विवरण है—'सिंह-सेनापति' में लिच्छवि-वीर सिंह और 'जय यौधेय' में यौधेय-वीर जय का, परन्तु फिर भी इनमें से कोई भी 'व्यक्ति-प्रधान' उपन्यास नहीं है। ये दोनों व्यक्ति वास्तव में 'गण-जीवन' के भी प्रतीक हैं।"[१३]

'सिंह सेनापति' के पुरुष पात्रों में गण-चेतना का प्रतिनिधि सिंह है जो तत्कालीन अनेक सामाजिक एवं वैचारिक असंगतियों और द्वन्द्वों से एक कर्मठ वीर की भाँति गुजरता हुआ प्रगतिशील चेतना के वाहक के रूप में चित्रित किया गया है। उपन्यास में कपिल और उसके गुरु बहुलांश सिंह भी प्रगतिशील भावना के पोषक के रूप में चित्रित किये गये हैं। मगध-सम्राट बिंबसार एकतंत्र के प्रतिनिधि हैं तो उत्तरकुरु की देवजाति का इन्द्र वहाँ के समूह-मानव का प्रतिनिधि है। महावीर और गौतम बुद्ध का उल्लेख तत्कालीन धार्मिक चेतना के प्रतिगामी और प्रगतिगामी स्वरूपों को स्पष्ट करने की दृष्टि से किया गया है। स्त्री पात्रों में रोहिणी, भामा, सोमा और क्षेमा प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं, जो गणतंत्रीय आदर्शों की पोषिकाएँ होने के साथ ही स्त्री-वर्ग की स्वस्थ-सशक्त, स्वतंत्र समानाधिकारी चेतना की वाहिकाएँ भी हैं। उनका "आदर्श अंबपाली की छुई-मुई कोमलांगी नारी के प्रतिकूल और कान्यकुब्ज की मांसल एवं समस्त अंगाभूषणावृत राजकन्या की रूपछवि के विपरीत है। ये नारियाँ श्रमशक्ति की आराधिकाएँ, रूप लावण्य की पुत्तलिकाएँ, निडरता और उदार शौर्य की उमड़ती हुई सरिताएँ तथा आनन्द-उत्साह और विनोद की मंगलमयी कल्पनाएँ हैं जो वज्र के समान कठोर और कुसुम से भी कोमल हैं।"[१४]

भौतिक दृष्टिकोण के कारण 'सिंह सेनापति' में अतीत का चित्रण करते हुए राहुल ने उन रूढ़ियों पर कुठाराघात किया है जो उनकी दृष्टि में जीवन की प्रगति और मानव के प्रकाश में बाधा बनकर आती हैं। उन्होंने कई प्रसंगों में अनेक प्राचीन धारणाओं को भ्रांत निरूपित किया है जिनके आधार पर आदर्शवादी साहित्यकारों ने अतीत को सदैव स्वर्णिम रूप में अंकित किया।

'सिंह सेनापति' की संपूर्ण कथा के अनुशीलन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि लेखक ने इसमें अपनी दार्शनिक मान्यताओं का समर्थन इतिहास के परिपार्श्व में किया है। इसमें गणतंत्रीय मानव एवं राजतंत्रीय मानव के सामाजिक जीवन का चित्रण करते हुए मुख्य रूप से दास-प्रथा एवं दासता की भावना, जाति-प्रथा, आर्थिक विषमता-जनित अभिशप्त जीवन, हिंसा-अहिंसा, श्रम-व्यवसाय, लोक-परलोक एवं राजनीति आदि जीवन के बहुविध प्रश्नों का चित्रण समग्र रूप में करने का प्रयत्न किया गया है। मानव-विकास के प्रारंभिक युग को ध्यान में रखते हुए लेखक ने यह सिद्ध किया है कि समूह-मानव का जीवन ही श्रेष्ठ है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि लेखक आज के मानव को पुनः अज्ञानान्धकार की ओर, पीछे ले जाना चाहते हैं। 'जय यौधेय' में राहुल जी ने स्पष्ट कर दिया है कि 'समूह-मानव के जीवन को आदर्श रूप में स्वीकार करने से उनका यही तात्पर्य है कि वह जीवन सामूहिक चेतना की प्रमुखता के कारण वैयक्तिक स्वार्थ-जनित विकृतियों से रहित है। श्रेष्ठ से मध्यम और मध्यम से कनिष्ठ जीवन बनने का कारण है लालच और उसका मूल है संपत्ति। परिणामस्वरूप वैयक्तिक स्वामित्व-भावना का प्रादुर्भाव होता है, वैयक्तिक चेतना का विकास होता है और उपर्युक्त विभिन्न समस्याएँ उत्पन्न होती हैं।'

जय यौधेय : राजतन्त्र और अध्यात्मवाद का प्रतिवाद

'जय यौधेय' गुप्तकालीन यौधेयगण के स्वरूप और उसकी अवस्था का चित्र प्रस्तुत करता है। इस उपन्यास में प्रतिपादित जीवन-दर्शन भी स्पष्टतः द्वन्द्वात्मक-भौतिकवाद है। इसमें आत्मा, परलोक, ब्रह्म आदि आध्यात्मिक तत्त्वों का निषेध किया गया है और त्याग, वैराग्य आदि को काल्पनिक सुख-साधन मानकर उन का तिरस्कार करते हुए स्वस्थ जीवन और उपभोग की स्वीकृति

है। 'जय यौधेय' में द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आधार पर राहुल राजतंत्र और अध्यात्मवाद—दोनों को एक ही सिद्धान्त की दो अभिव्यक्तियाँ मानते हैं। उनकी धारणा है कि अध्यात्म की कल्पना राजसत्ता को स्थिर रखने के लिये ही की गयी है। निदान इन दोनों के विरुद्ध उनका संस्कार घोर विद्रोह कर उठता है। उनकी अन्य कृतियों की तरह प्रस्तुत उपन्यास में भी इन दोनों का कठोर प्रतिवाद किया गया है। राजा के लिये प्रायः 'रजुल्ला' शब्द का प्रयोग इस धारणा का प्रमाण है।

राहुल ऐसे समाज का निर्माण चाहते हैं, जिसमें धनिक और निर्धन न हों, जिसमें सभी समान हों और सभी सुखी एवं समृद्ध हों। धनी के पास धन आकाश से नहीं टपकता। "नौ-सौ निन्नानवे मानवों के मुंह की रोटी, तन का कपड़ा और उनकी सारी कमाई छीनकर ये बड़े-बड़े प्रासाद खड़े होते हैं, ये स्वर्ण-रत्न के दीपक जलते हैं, ये दुकूल, चीनांशुक और पांडु कम्बल (दुशाले) ओढ़े जाते हैं। जिनका सारा धन, सारा वैभव बहुजन (साधारण जनता) को दुखी-दरिद्र बनाकर प्राप्त होता है, वह तथागत के बहुजनहिताय धर्म का क्या उपकार करेंगे?"[५] आगे राहुल लिखते हैं—"मनुष्य को अपने सुख, अपने निर्वाण के लिये नहीं दौड़ना चाहिए, उसका जीवन-प्राण 'बहुजन-हिताय' होना चाहिए। जब तक एक भी मानव दुख में है, बन्धन में है, तब तक हमें निर्वाण नहीं चाहिए, हमें स्वर्ग नहीं चाहिए। तब तक हमारा स्थान आर्त्तों, दुःखियों और दीनों के बीच है।"[६]

दार्शनिक दृष्टि के आलोक में इतिहास की गति की परीक्षा करते हुए राहुलजी ऐहिक विवेक और बुद्धि के आगे कुछ भी स्वीकार नहीं करते। उनका कथन है कि "किसी भी बात को तब तक मत मानो, जब तक तुम्हारे अनुभव और बुद्धि की कसौटी पर वह खरी न उतर जाय।"[७] राहुल जीवन और संसार को एक प्रवाह के रूप में देखते हैं—"संसार अपने संसरण, प्रवाह, परिवर्तन से अधिक विचित्र, अधिक मोहक बनता है। परिवर्तन विश्व के कण-कण में है, हम में-तुम में भी है। हमारा मन, हमारा अन्तःस्थल क्षण-क्षण बदलता रहता है। परिवर्तन के अभाव में प्रत्येक वस्तु को चिरन्तन और अचल रहना पड़ता है। ज्यों-ज्यों परिवर्तन का प्रवाह बहता चला जाता है, त्यों-त्यों उसकी धारा अधिकाधिक विस्तृत, गंभीर और उज्ज्वल होती चली जाती है।"

चार्वाक-दर्शन की पुनर्व्याख्या

राहुल जी ने प्रस्तुत उपन्यास में अपनी जीवन-पद्धति के समर्थन में चार्वाक-दर्शन की पुनर्व्याख्या की है। यह दर्शन ईश्वर, वेद, पुनर्जन्म, परलोक आदि को अस्वीकार कर, मानव-शरीर को प्रमुखता देता है। यह बात राहुल की विचारधारा से मेल खाती है, अतः इसे उन्होंने स्वीकार कर अपनी व्याख्या से इसमें नये अर्थ भर दिये हैं। 'जय यौधेय' में जय अपने परिचित चार्वाक पंडित के जीवन-दर्शन से सहमत नहीं होता। पंडित का कथन है कि हमें यह जीवन फिर मिलने वाला नहीं है, इसलिये जितना हो सके उतना खाओ-पिओ, मौज करो, ऋण लो, घी पिओ, मरने के बाद पूछनेवाला कौन है? जय पंडित के मत का उत्कट प्रतिवाद करते हुए अपनी चार्वाक दर्शन-संबंधी स्थापना इन शब्दों में प्रस्तुत करता है—"चार्वाक दर्शन का मैं यह अर्थ नहीं लेता मित्र। चार्वाक ने ईश्वर को मानने से इन्कार कर दिया, इसीलिये कि मनुष्य अपने भाग्य का स्वयं विधाता हो, किसी के हाथ की कठपुतली न बने। चार्वाक ने जीवन को एक अजर-अमर स्वतंत्र तत्त्व नहीं माना, इसलिये कि मनुष्य को हर क्षण नया बनाने का मौका है। चार्वाक ने परलोक और पुनर्जन्म से इनकार कर दिया, इसलिये कि जिन चीजों को हम परलोक में ढूंढते हैं, उन्हें इसी लोक में पैदा करें, परलोक की जैसी कल्पना सुनने में आती है, वैसा इसी लोक को बनाया जाय।"[८]

इसके उत्तर में चार्वाक पंडित दर्शन की नयी व्याख्या से अचकचाकर पूछता है—"आप किस चार्वाक मत की बात कर रहे हैं? प्रत्युत्तर में जय का कहा प्रथम वाक्य राहुल की इतिहास-प्रयुक्त पुनर्व्याख्या-प्रवृत्ति की प्रबल घोषणा करता है—"जो चार्वाक मत केवल बुद्धि को अपना पथप्रदर्शक मानता है।"[९]

'जय यौधेय' के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि इसमें ऐतिहासिक कथा के विश्लेषण के माध्यम से राहुल ने आज के पाठक को आधुनिक एवं वैज्ञानिक

जीवन-दृष्टि प्रदान की है। इस प्रयत्न में उपन्यास "वैचारिकता से बोझिल हो गया है, किन्तु इसके पीछे प्रगतिवादी जागतिक दृष्टिकोण की पुष्टि करना उपन्यासकार का लक्ष्य रहा है।"[१०]

'मधुर स्वप्न', महान कार्य की मानसिक पूर्व-कल्पना

'मधुर स्वप्न' में राहुल ने मध्य एशिया के छठी शताब्दी के जीवन के खण्ड-चित्र के अंकन के द्वारा मार्क्सवादी विचारों का समर्थन किया है। इस उपन्यास के वस्तु-चयन के सबंध में कहा गया है कि "केवल युद्ध को छोड़कर राहुल जी आर्थिक दृष्टिकोण से साम्यवाद को स्वीकार करते हैं। उनके मत में यही एक प्रणाली जनता को सुख-शान्ति दे सकती है। इस दृष्टिकोण का परिचय उन्होंने सर्वत्र दिया है, परन्तु 'मधुर स्वप्न' में वह विशेष पल्लवित है।"[११]

'मधुर स्वप्न' जैसा कि ऊपर कहा गया है, लेखक के जीवन-दर्शन–साम्यवादी सिद्धान्तों के आधार पर एक आदर्श समाज की स्थापना–के प्रयास का मधुर स्वप्न है। इसी में उपन्यास के नामकरण की सिद्धि है। "यहाँ स्वप्न शब्द का प्रयोग किन्हीं 'बुरे अर्थों' में नहीं किया गया, महान कार्य की मानसिक पूर्व-कल्पना को 'स्वप्न' नाम दिया गया है।"[१२] मानव-मात्र की, वाचिक क्षेत्र ही नहीं, बल्कि आर्थिक व्यवहार के क्षेत्र में भी, समानता से भूमि पर स्वर्ग उतर सकता है, अतएव इस कल्पना को मधुर स्वप्न की अभिधा दी गयी है।[१३] इन साम्य-सिद्धान्तों को चरितार्थ करने की प्रेरणा से ही लेखक ने ईरानी इतिहास के उस काल-खण्ड–सन् ४९२-५२९ ई०–को चुना, जिसमें इन सिद्धान्तों के वाहक तथा इनके लिये संघर्ष करने वाले पात्र थे, जो इतिहास की उपेक्षा के विरुद्ध उससे न्याय पाने–अपने को उजागर करने–की मांग कर रहे थे। इन पात्रों में प्रमुख है अन्दर्जगार या मज्दक, जो इस मधुर स्वप्न का द्रष्टा है और यह उपन्यास उसीके मधुर स्वप्न के बनने-मिटने की कथा है। तत्कालीन अयरानी सामन्तशाही राज्यतंत्र में व्याप्त रूढ़ियों, कुरीतियों, धार्मिक असहिष्णुताओं तथा वर्गीय विषमताओं के चित्रण के मध्य अन्दर्जगार के साम्य-सिद्धान्तों को उसके कथनों, कार्यों से इतना प्रभाव, विस्तार दिया जाता है कि तत्कालीन बादशाह को प्रभावित कर उसका मज्दकी धर्म राजधर्म बन जाता है और इस धर्म का प्रचार-प्रसार इतना बढ़ जाता है कि बादशाह की पराजय के बाद दिहबगान नामक ग्राम उसके आदर्शों का मूर्तिमान प्रतीक बनकर आता है।[१४] इस ग्राम में संपत्ति के सम-विभाजन के साथ सम्मिलित पत्नी के सिद्धान्तों को साकार किया गया है। इस तरह लेखक ने अपने जीवन-दर्शन को निबन्ध-तत्त्व के माध्यम से नहीं, इसी अन्दर्जगार के कथनों-कार्यों से प्रकाशित किया है। इस दृष्टि से अन्दर्जगार का यह कथन उल्लेखनीय है—"दुनिया के दुखों को दूर करने के लिये मनुष्य मात्र में समता–भोगों की समता, कामों की समता–स्थापित करना ही एक मार्ग है। विषमता में मुट्ठी भर लोग ही सुखी रह सकते हैं और मुट्ठी-भर भी निश्चित जीवन नहीं बिता सकते। . . . . . मैं और मेरा का ख्याल छोड़ विश्व को कुटुंब बना उसमें समता की स्थापना ही सारे रोगों की दवा है। आज हम प्रयत्न कर रहे हैं, हो सकता है कि हम सफल न हो पायें। यह भी हो सकता है कि आने वाले मधुर स्वप्न-दर्शियों को हमारे तजर्बे का कोई परिचय न हो, तो भी जो सत्य है, वह भूल जाने पर भी प्रकट होगा। हमारी रखी नींव के भी लुप्त हो जाने पर नये हाथ और मस्तिष्क फिर इस काम में लगेंगे और वह तब तक विश्राम न लेंगे, जब तक भव्य प्रासाद नहीं तैयार हो जायेगा।" स्पष्ट है कि लेखक का प्रेरणा-स्रोत वर्तमान है और उन्होंने अतीत में भी उन वर्तमान क्षणों को खोज निकाला है जो समसामयिक साम्यवादियों के संघर्षेतिहास के प्रारम्भिक संघर्ष-प्रयोग को लिये हुए हैं। इस तरह "अतीत की विवेक-संपन्न विभूतियों के चिन्तन-निष्कर्षों द्वारा राहुल ने वर्तमान साम्यवादी विचारधारा की नींव को गहरी, अतल-अतीतव्यापी सिद्ध करने का प्रयास किया है। उनके लिये अतीत-मंथन की सार्थकता वर्तमान के लिये स्फूर्ति-रत्नों को खोज निकालने में है।"[१५]

'विस्मृत यात्री' का 'बहुजनहिताय' पक्ष

राहुल ने प्रायः अपने सभी ऐतिहासिक उपन्यासों में बौद्ध धर्म का अपने जीवन-दर्शन के अनुकूल निरूपण किया है, किन्तु 'विस्मृत यात्री' में यह प्रवृत्ति अधिक सटीक बन

गयी है। इस उपन्यास का नायक नरेन्द्रयश आस्थावान बौद्ध है। वह जीवन भर भारत और लंका के बौद्ध तीर्थों की यात्रा कर, अन्त में बौद्ध देश चीन पहुंचकर वहीं सेवा-कार्य में शेष जीवन बिताता है। वह अपने यात्रा-क्रम में बौद्ध धर्म में प्रचलित हो गये अलौकिक, भ्रान्त, पाखण्डपूर्ण अंशों का विश्लेषण कर, उनकी निर्भीक आलोचना करता चलता है। उसकी दृष्टि संप्रदायबद्ध नहीं है, वरन् मानव-हित की भावना और उसके व्यावहारिक पक्ष पर केन्द्रित है। उक्त उपन्यास में विभिन्न पात्र अनेक स्थलों पर बुद्ध के दृष्टिकोण का प्रतिपादन करते हैं। उनके अनुसार बुद्ध ने स्वीकार किया है कि संसार में अपार दुख है, किन्तु यह दुख अकारण नहीं, सकारण है। दुख भी अनित्य है। यह मनुष्य के पुरुषार्थ द्वारा दूर हो सकता है। बौद्ध-धर्म को 'बहुजनहिताय', 'बहुजनसुखाय' कहा गया है। इसमें गिने-चुने लोगों के वैभव-विलास पर प्रतिबन्ध लगाकर समाज के अधिकांश जनों को कष्टविहीन करने का संकल्प है। यह मनुष्य को जन्म से नहीं, उसके कर्म से, उसके शील से ही महान स्वीकार करता है।[१६]

वस्तुतः बौद्ध धर्म का यह संदेश राहुलजी की जीवन-दृष्टि का सहायक तत्त्व है। अपने ऐतिहासिक उपन्यासों में कथाओं, घटनाओं और उपाख्यानों के माध्यम से राहुल अपने सिद्धान्तों और विचारों का ही प्रतिपादन करते हैं।

—हिन्दी विभाग, कालीकट विश्वविद्यालय, केरल

संदर्भिका :

१. डा० शशिभूषण सिंह—हिन्दी उपन्यास की प्रवृत्तियाँ, पृष्ठ ३१८
२. आलोचना (४), पृष्ठ १०१
३. डा० ब्रह्मानन्द (सम्पादक)—राहुल सांकृत्यायन व्यक्तित्व एवं कृतित्व, पृष्ठ ६६
४. डा० प्रभासचन्द्र शर्मा 'महता'—प्रगतिवाद और हिन्दी उपन्यास, पृष्ठ २९५
५. राहुल सांकृत्यायन—जय यौधेय, पृष्ठ ३२
६. वही पृष्ठ ३३
७. वही पृष्ठ ३४
८. वही पृष्ठ १९०-१९१
९. वही पृष्ठ १९३
१०. डा० प्रभासचन्द्र शर्मा 'महता'—प्रगतिवाद और हिन्दी उपन्यास, पृष्ठ ३३१
११. डा० गोपीनाथ तिवारी—ऐतिहासिक उपन्यास और उपन्यासकार, पृष्ठ ३२५
१२. राहुल सांकृत्यायन—मधुर स्वप्न, पृष्ठ २३६
१३. वही पृष्ठ २३९-२४१
१४. वही पृष्ठ २८२
१५. डा० सत्यपाल चुघ—प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों की शिल्पविधि, पृष्ठ ७११
१६. राहुल सांकृत्यायन—विस्मृत यात्री, पृष्ठ ११२-११४

समुद्र-मंथन

भगवान विष्णु की प्रेरणा से देवों ने दैत्यों की सहायता से समुद्र-मंथन का आयोजन किया। इस आयोजन के पीछे विश्व के महानतम त्राता सर्वेश्वर विष्णु का उद्देश्य दैत्यों द्वारा पदच्युत देवों को अमृत प्राप्त कराना था। देवों और असुरों ने मन्दराचल की मथानी को वासुकि नाग की रज्जु से घुमाकर क्षीरसागर का मंथन किया। मन्दर को डूबने से बचाने के लिये विष्णु ने कूर्म बनकर उसे अपनी पीठ पर उठाये रखा। समुद्र-मंथन से चौदह रत्न प्रकट हुए, जिनमें हलाहल विष भी था और अमृत भी। विष्णु ने मोहिनी रूप से अमृत देवों को प्रदान करके उन्हें अमर बना दिया।

इस कथानक का वैज्ञानिक भावार्थ बड़ा रोचक है। नाग, कूर्म, कुकर, देवदत्त और धनंजय पाँच उपप्राणों या भौतिक ऊर्जाओं के नाम हैं। फुफकारने और सर्राटे भरकर दौड़ने वाला नाग धारावाही विद्युत् ऊर्जा है और चुम्बकीय बलरेखाओं के आकार का संकुचनशील कूर्म चुम्बकीय ऊर्जा है। विद्युद्धारा के लम्बवत् सदैव एक चुम्बकीय क्षेत्र उत्पन्न हो जाता है। समुद्र-मंथन में नाग के बलक्षेत्र के लम्बवत ही कूर्म ने अपना बल प्रकट किया।

समुद्र-मंथन सृष्टि का एक शाश्वत प्रक्रम है, जो भौतिक द्रव्य के परमाणु में चलता रहता है। भारी मन्दराचल नाभिकीय कण है और उस पर लिपटे नाग के आवर्त हैं—विद्युन्मय स्वभाव के 'इलेक्ट्रानों' के घेरे। मंथन में रज्जु और मथानी—दोनों के ही चऋण की दो अभिदिशाएँ होती हैं। इलेक्ट्रानों और नाभिकीय कणों का भी चऋण अर्द्धमात्रक होता है, जिसका अर्थ दो अभिदिशाओं में घूमना है। तरल 'मेसानों' के सागर में अन्तर्नाभिकीय विलोड़न से अनेक नये तत्त्व जन्म लेते रहते हैं। इनमें नाभिक को अस्थिर करके शृंखलाबद्ध विघटन के महा-विस्फोट का संकट उत्पन्न कर देने वाला कालकूट हलाहल भी है और देवों को उनके अक्षय्य लोकों (स्तरों) की प्राप्ति कराने वाला अमृत भी।

(त० वि०)

डा० लक्ष्मीनारायण लाल

राजनीति की दृष्टि में धर्म, धर्म की दृष्टि में राजनीति

औरंगजेब ने एक पत्र में अपने अध्यापक मुल्ला साहेब को लिखा है, 'तुमने मेरे पिता शाहजहाँ से कहा था कि तुम मुझे दर्शन पढ़ाओगे। यह ठीक है, मुझे भलीभांति याद है कि तुमने अनेक वर्षों तक मुझे वस्तुओं के संबंध में ऐसे अनेक अव्यक्त, सूक्ष्म प्रश्न समझाये, जिनसे मन को कोई संतोष नहीं होता और जिनका मानव-समाज के लिये कोई उपयोग नहीं है। ऐसी थोथी धारणाएँ और खाली कल्पनाएँ, जिनकी केवल यह विशेषता थी कि उन्हें समझ पाना बहुत कठिन था और भूल पाना बहुत सरल। मगर क्या तुमने कभी मुझे यह सिखाने की चेष्टा की कि शहर पर घेरा कैसे डाला जाता है। या सेना को किस प्रकार व्यवस्थित-संगठित किया जाता है? इन वस्तुओं के लिये मैं अन्य लोगों का आभारी हूं। तुम्हारा बिल्कुल नहीं।'[1]

आज जो संसार, देश-समाज, और व्यक्ति इतनी संकटपूर्ण दशा में फंसा है, वह इसीलिये कि वह 'शहर पर घेरा डालने' या 'सेना को व्यवस्थित करने' के विषय में आवश्यकता से भी अधिक जानता है और अपने जीवन, जीवन-मूल्यों और धर्म की आधारभूत बातों के संबंध में, जिन्हें स्वभावतः वह थोथी धारणाएँ और खाली कल्पनाएँ कहकर एक ओर हटा देता है, कोई जानकारी नहीं रखता, न रखना चाहता है।

केवल नगर पर घेरा डालने, सेना को व्यवस्थित करने का ज्ञान और इस ज्ञान के फलस्वरूप जो संगठन, व्यवस्था पैदा होती है—स्पष्ट शब्दों में यही है वह राजनीति जिसका एकमात्र लक्ष्य है किसी तरह दूसरे से सत्ता हड़पना। इस सत्तावादी राजनीति का खुला चरित्र हमने अपनी वर्तमान शताब्दी में क्रमशः 'फासिज्म' और 'कम्यूनिज्म' के रूप में देखा और अभी देख रहे हैं। इसकी दृष्टि में धर्म और जीवन के केन्द्रीभूत प्रश्न थोथी धारणाएँ और खाली कल्पनाएँ हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि एक सर्वव्यापी विषाद हमें घेरने लगा है। हमारा संसार अलग-अलग शिविरों, घटकों, खंडों में इस तरह 'संगठित' किया और होता जा रहा है कि परस्पर वे खंडित, 'घिरे' संसार भ्रान्तियों, कटुताओं और संघर्षों से भरते जा रहे हैं। सारा वातावरण संदेह, अनिश्चितता और भय से तना हुआ है और जीवन-मूल्यों, सामाजिक

न्याय, विधि और व्यवस्था के प्रति एक भयंकर जड़ता से हम घिरते जा रहे हैं।

हिन्दुत्व का सनातन धर्म यह कहता है कि जब-जब 'धर्म' की ऐसी 'हानि' होती है, 'धर्म' के प्रति जब ऐसी 'ग्लानि' आ जाती है, तब ईश्वर का अवतार होता है—अर्थात् तब जनक्रांति होती है। मूलभूत परिवर्तन होता है। हमारे धर्मग्रंथ, आख्यान, उपाख्यान, पुराण आदि स्पष्ट बताते हैं कि क्रांति उन लोगों द्वारा नहीं की जाती, जिनके पास प्रत्यक्ष सत्ता नहीं होती, बल्कि उन लोगों द्वारा की जाती है, जिनके हाथ में प्रत्यक्ष सत्ता होती है और वे उसका दुरुपयोग करते हैं। इसलिये विशेषतः हम भारत-वासी प्रायः ऐसा सोचने लगे हैं कि वर्तमान स्थिति सारतः क्रांतिकारी है। हमारे समय में महर्षि अरविंद ने इस भावना को बड़े व्यापक और गहन रूप में पूरी आस्था और पूरे विज्ञान के साथ स्थापित किया है। पर इस धार्मिक विश्वास के अनुरूप 'क्रांति' के, जहां विकृत जीवन-मूल्यों और आदर्शों में एक आधारभूत, समूल परिवर्तन होता है, ठीक विपरीत राजनीति में 'क्रांति' का अर्थ सैन्यशक्ति की हिंसा, भीड़ की हिंसा, शासकवर्ग की हत्या और दूसरों पर इस तरह से घेरा' डालकर सत्ता को लूटना-हड़पना है कि उस दूसरे का कहीं अस्तित्व ही न रह जाय। फिर ऐसे बर्बर, हिंस्र, लूट और डाके को अपने राजनीतिक दर्शन से रंगकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न करना कि 'जन क्रांति' हुई है! तब ऐसी क्रांति से ऐसा सर्वसत्तावादी राज्य आता है जहां हमारे जीवन के सूक्ष्म से सूक्ष्म भाग का नियमन एक ऐसे राज्यतंत्र द्वारा होता है जो अपने कार्यपालन में अत्यंत निष्ठुर और अमानवीय होता है। राज्य अपने आप में एक लक्ष्य बन जाता है, जिसे यह अधिकार होता है कि वह हमारे आत्माओं को यंत्र बना दे, क्योंकि तब राज्य ही धर्म हो जाता है। जो भी धर्म अपने आप को किसी साधन से जोड़ लेता है, वह पूजा से ऊपर नहीं उठ पाता। और राज्य-पूजा, जहाँ राज्य का आंतरिक मूल्य कुछ भी नहीं है, पूजा करने वालों को स्वभावतः केवल पशु बनाती है।

राज्यभक्त और देशभक्त में वही गुणात्मक अंतर है, जो राजनीति और धर्म के बीच है। सच्चे देशभक्त का आंतरिक लगाव स्थानीय, जातीय या राष्ट्रीय ही नहीं होता, बल्कि इससे भी ऊपर मानवीय होता है। सच्चा देशभक्त सबके लिये स्वतंत्रता, न्याय, शांति और सामाजिक सुख-आनन्द के प्रति प्रेम रूप में कार्यरत होता है। ठीक इसके विपरीत राज्यभक्त कम्यूनिस्ट, देशभक्त, राष्ट्र-प्रेमी को खंडित व्यक्तित्व वाला व्यक्ति मानता है और इस प्रसंग में यह तर्क देता है कि चूंकि देशप्रेमी, राष्ट्रप्रेमी अपने आपको एक निश्चित समुदाय, राष्ट्र और समाज का सदस्य मानता है, इसलिये उसमें नैतिकता के नियमों का निरंतर उल्लंघन होता रहता है। और जैसा कि मार्क्स ने कहा, 'एक-नागरिक समाज' में रहने के कारण वह अपने हितों के लिये समाज के हितों का विरोध करता है, जिसका अर्थ यह हुआ कि वह दूसरों के हितों का विरोध करता है और अंततः हर एक के विरुद्ध युद्ध छेड़ता है। मार्क्स ने यह बात पूंजीवाद के विरुद्ध कही है और यह पर्याप्त सीमा तक ठीक है। पर देशप्रेम, राष्ट्रप्रेम को और इसके अंतस् में जाकर धर्म को खंडित व्यक्तित्व से जोड़ना सत्य पर पर्दा डालने जैसा निरर्थक प्रयत्न है। मार्क्स ने अपने 'कैपिटल' खंड एक, पृ० ५६२ पर जितना क्षोभ पूंजीवादी नैतिकता पर व्यक्त किया है, जहां वह यहां तक कहता है कि 'काम केवल पूंजी का संचालन रह गया, जहां धन और वस्तु मनुष्य की बुद्धि को पागल कर देते हैं, जहां मानव-संबंध विकृत हो चुका है', इससे कौन सच्चा देशप्रेमी, राष्ट्रप्रेमी असहमत हो सकता है? हमारा धर्म हर प्रकार की असमानता, शोषण और अनैतिकता के विरुद्ध एक सतत संघर्ष है।

सारे वैचारिक संकट का मूल ही यही है कि सत्तावादी राजनीति हिन्दुत्व के सनातन धर्म को एक व्यवस्था, एक 'सिस्टम' मात्र मानती है। यह आधारगत भूल, मार्क्स से लेकर आज तक—मार्क्सवादियों से लेकर वर्तमान भारतीय समाजवादियों तक यही है कि वे धर्म को 'रेलिजन' मानकर चलते हैं। 'रेलिजन' निश्चय ही एक 'सिस्टम' है, व्यवस्था है, पर हिन्दू का कोई हिन्दू धर्म नहीं है। धर्म तो यहां सनातन है—गत्यात्मक है। यह एक व्यवस्था मात्र नहीं है। यह एक ऐसी व्यवस्था है, जीवन-दृष्टि है, कर्म और आचरण है, जिसका काम पूजा, भजन, भक्ति मात्र ही नहीं है, बल्कि इन सारी व्यवस्थाओं से परे जाना भी है। व्यवस्थाओं से मुक्त हो जाना, परे हो जाना ही परम धर्म है। 'रेलिजन' मात्र एक 'सिस्टम'

है। ईसाई रेलिजन 'फि
और 'फासिज्म' निकल
'सिस्टम' से स्वभावतः
इसके विपरीत धर्म पर
राजव्यवस्था हावी हो
खड़ा होता है। हमारा
अभी कल तक का इति

मार्क्सवादियों का यह
की विजय के साथ म
नैतिकता बन जाती है
का नया अध्याय प्रारंभ
इस विश्वास में, ध्यान
है कि पहले आप क
कहला सकते हैं। जो
वह नैतिक नहीं हो स
सिद्धांत और विश्वा
के साथ समाज और
त्मिक आवश्यकताओं
अपने ऊपर ले लेता
आदर्श मानता है: 'फ
और हर एक को
राज्य और धर्म;
और दासता के बीच
उदाहरण और क
विश्वास के अनुसा
है और मनुष्य में जं
करता है, उसे विक
की हीन भावना

संपूर्ण जीवन अर्थ
का ही यह फल है
पुरुषार्थों में से अ
करने की इच्छा'
संपूर्ण जीवन सम
इसकी धार्मिकता
से वर्तमान मार्क
वे अब इस महत्व
परिस्थितियों के

है। ईसाई रेलिजन 'सिस्टम' है, तभी इसमें से एक ओर 'फासिज्म' निकला, दूसरी ओर 'कम्यूनिज्म'। 'सिस्टम' से स्वभावतः 'सिस्टम' ही निकलेगा। ठीक इसके विपरीत धर्म पर जैसे ही कोई भी व्यवस्था या राजव्यवस्था हावी होने लगती है, धर्म उसके विरुद्ध खड़ा होता है। हमारा सारा साहित्य, पुरा कथाएँ, और अभी कल तक का इतिहास इसका साक्ष्य है।

मार्क्सवादियों का यह कथित विश्वास है कि समाजवाद की विजय के साथ मजदूरवर्ग की नैतिकता समाज की नैतिकता बन जाती है और इससे कम्यूनिस्ट नैतिकता का नया अध्याय प्रारम्भ हो जाता है। नैतिकता संबंधी इस विश्वास में, ध्यान देने की बात यह है कि इसमें शर्त है कि पहले आप कम्यूनिस्ट हों, तभी आप नैतिक कहला सकते हैं। जो इस शर्त को पूरा नहीं कर सकता, वह नैतिक नहीं हो सकता। क्योंकि कम्यूनिज्म में अगला सिद्धांत और विश्वास यह है कि कम्यूनिज्म में संक्रमण के साथ समाज और व्यक्ति की सभी भौतिक और आध्यात्मिक आवश्यकताओं को पूरा करने का दायित्व वह अपने ऊपर ले लेता है, इसके लिये वह इस सिद्धान्त को आदर्श मानता है : 'हर एक को उसकी योग्यता के अनुसार और हर एक को उसकी आवश्यकता के अनुसार।' राज्य और धर्म; राजनीतिक और मानवीय परतंत्रता और दासता के बीच अंतर्विरोध समझने का इससे सटीक उदाहरण और क्या हो सकता है। इस राजनीतिक विश्वास के अनुसार धर्म मानव-हितों को संकीर्ण बनाता है और मनुष्य में उसकी अपनी शक्ति के प्रति संदेह पैदा करता है, उसे विनम्र बना देता है तथा उसमें एक तरह की हीन भावना भर देता है।

संपूर्ण जीवन अर्थात् धर्म के प्रति इस खंडित विचारधारा का ही यह फल है कि धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों में से आज का सोवियत नागरिक केवल 'काम करने की इच्छा' अथवा विवशता, मजदूरी का ही अपना संपूर्ण जीवन समझने को बाध्य है। भारत की स्वतंत्रता, इसकी धार्मिकता और इसकी अपनी विशेष संस्कृति से वर्तमान मार्क्सवादी, समाजवादी इतने चिंतित हैं कि वे अब इस महत्वपूर्ण बात का पता लगाने में लगे हैं कि वे परिस्थितियां कौन सी हैं जिनमें धार्मिक, राष्ट्रवादी और इसके नैतिक अवशेष पनपते रहते हैं। इनके भावी राजनीतिक कार्यक्रम का मूल यही होगा कि उन परिस्थितियों, स्थितियों को ही समाप्त कर दें जहां से धर्म, राष्ट्रप्रेम, देशप्रेम उगता है। सत्तावादी, तानाशाही राजनीति की दृष्टि में भारत का सनातन धर्म इसीलिये शत्रु बना हुआ है कि इसका विनाश जब तक नहीं होगा, तब तक उनकी राजनीतिक संहिता की प्रतिष्ठा का कोई भविष्य नहीं है। उन्होंने भारत देश को देख-समझकर यह स्पष्ट कर लिया है कि इसकी धार्मिक आस्था के विनाश पर ही अपनी राजनीतिक आस्था स्थापित हो सकती है। पहले धर्म के स्थान पर राजनीति, फिर राजनीति के प्रति पूर्ण आस्था, फिर उस आस्था को नैतिक भावुकता में बदल देना ताकि अंततः इस नयी आस्था और भावुकता के आधार पर सबके सोचने, समझने और व्यवहार में ही ऐसा परिवर्तन लाया जा सके कि पशु के समान वही आदत बन जाय और लोग सदा के लिये यह विश्वास कर लें कि वे अपेक्षाएँ उचित हैं। मानवीय इच्छाओं और भावुकता का ऐसा वैज्ञानिक प्रणिक्षण कि लोगों के लिये यही विश्वास आस्था बन जाय कि मनुष्य केवल 'काम' है, 'श्रम' है, मशीन का पुर्जा है, केवल उपभोक्ता है—यही है चरम लक्ष्य उस सत्तावादी राजनीति का—वह राजनीति चाहे मार्क्सवादी हो, चाहे पूंजीवादी; वह राजनीति चाहे समाजवाद के नाम पर हो, चाहे उपभोगवादी मानव-स्वतंत्रता और कल्याणवाद के नाम पर हो।

लेनिन ने मनुष्य के अंदर जिस वस्तु को सबसे अधिक मूल्यवान समझा, वह थी सोद्देश्यता और ध्यान केन्द्रित करने की योग्यता। भारतवर्ष के मनीषियों की भाषा में वह मूल्यवान वस्तु है 'स्वधर्म'। लेनिन ने शिक्षा और प्रशिक्षण के प्रसंग में इस बात पर बल दिया है कि प्रत्येक मनुष्य में उसके अपने नैतिक गुणों का सजग विकास होना चाहिए। यही है स्वधर्म का विकास। पर आज के कम्यूनिज्म, समाजवाद और समूची सत्तावादी राजनीति का लक्ष्य है कि मनुष्य को एक समूह में, भीड़ में बदल दिया जाय ताकि उस पर किसी एक तानाशाह या दल का प्रभुत्व बना रहे। ठीक इसके विपरीत धर्म का मूल यह है कि प्रत्येक मनुष्य अपनी चेतना के प्रति उत्तरदायी होता है, उसका यही उत्तरदायित्व उसे सामाजिक बनाता है। जो सामाजिक नहीं, वह धार्मिक नहीं हो सकता।

धर्म का सार है कि सामाजिक लोकदायित्व-भावना व्यक्ति के व्यक्तित्व का अभिन्न अंग है। इसका भाव यह है कि सामाजिक हित, कल्याण के प्रति व्यक्ति के दायित्व की भावना विकसित होकर व्यक्ति की अपनी चेतना के समक्ष उसकी अपनी दायित्व-भावना बन जाती है और यही नैतिक बोध मानव-आचरण को अंदर से सहज ही नियंत्रित करता है। ठीक उसके विपरीत सत्तावादी राजनीति मनुष्य को व्यक्ति से समूह, भीड़ और राजनीतिक पशु बनाकर बाहर से नियंत्रित करना चाहती है। गोर्की के उपन्यास 'माँ' के एक चरित्र का कहना है–'मुझे मालूम है कि एक समय ऐसा आयेगा जब लोग स्वयं अपने सौन्दर्य पर चकित होंगे।' क्या वह समय ऐसे 'नियंत्रण' करने और 'घेरा' डालने की विद्या से आयेगा? क्या कभी कोई डाकू, लुटेरा, गुलाम और परतंत्र पशु भी अपने सौन्दर्य पर चकित हो सकता है?

यह हमारे मध्ययुग का दुर्भाग्य और आधुनिक भारतीय राजनीति की त्रासदी है कि धर्म का नाम लेते ही मंदिर, मूर्ति, पुरोहित-पंडावाद, भजन, कीर्तन, कर्मकांड, विविध विश्वास-अंधविश्वास का चित्र सामने आता है। यह धर्म नहीं लोकाचार है। जैसा हमारा लोक होगा, स्व-भावतः वैसा ही लोक का आचरण होगा। जो यह कहता है कि जो करेगा, ईश्वर करेगा, सब भाग्य के अधीन है, वह धार्मिक नहीं है। धार्मिक वह है जो यह विचार अपने कर्म, आचरण, व्यवहार में लाता है कि कभी कोई परिवर्तन अपने आप नहीं होता। परिवर्तन के लिये सदैव मनुष्य के हस्तक्षेप की आवश्यकता होती है। हमारे नाटकों, महाकाव्यों का 'नायक', धर्म ग्रंथों का 'पुरुष' वही है, जो महान दुर्गम सामाजिक समस्याओं से टकराता है। हमारे पूज्य वे हैं, जो युग और इतिहास का निर्माण करते हैं। जब युगांतर हो रहा हो, तब उसे मात्र दर्शक या चिंतक की तरह तटस्थ बने देखते रहने वालों को हमारे यहां बगुला भगत कहा गया है। जो तट पर स्थित है, वही है तटस्थ, वही है बगुला पक्षी। शेक्सपियर के 'हैमलेट' की तरह जयशंकर प्रसाद का स्कंदगुप्त ऐसा धार्मिक व्यक्ति नहीं है जो केवल आहें भरने और चिंतन में व्यस्त था। धार्मिक होना माने सतत युद्धरत होना। युद्धरत होना है धार्मिक होना, क्योंकि धार्मिक वही है जिसकी चेतना स्वधर्म से जुड़ी हुई सदा स्वतंत्र है। बनना धार्मिक नहीं है, होना धार्मिक है। दीपक जब तक जल रहा है, तभी तक वह अपने धर्म में है; जैसे ही दीपक बुझा, वह केवल एक संख्या बन गया। हमारे यहां वस्तु को पदार्थ कहा गया है। क्योंकि हर वस्तु में एक पद है, स्वर है, संगति है। यही है उस पद का अर्थ, अर्थात् पदार्थ। 'सकल पदारथ हैं जग माहीं, कर्महीन नर पावत नाहीं।' कर्म ही पदार्थ है। हमारे यहाँ 'कथा' तक को 'वस्तु' कहा गया है—यह है हमारे धर्म की पहचान।

वर्तमान भारतीय संदर्भ में सत्तावादी राजनीति का धर्म के प्रति सबसे बड़ा आरोप और विरोध यह है कि इससे राष्ट्रवाद को प्रेरणा मिलती है और राष्ट्रवाद फासिज्म है। उनका प्रसिद्ध आरोप है—'देशभक्ति ने पवित्रता और राष्ट्र के प्रति आवेश एवं भावुकता ने तर्कबुद्धि को समाप्त कर दिया है।'

निश्चय ही ये आरोप 'रेलिजन' और 'रेलिजन' से पैदा हुए 'नेशन' और उनके 'नेशन' प्रेम के प्रति सही हैं। पर यह आत्मवंचना ही है कि 'नेशन' और राष्ट्र, 'रेलिजन' और धर्म, 'किंग' और राजा, 'इंडिविजुअल' और व्यक्ति को समानार्थी समझ लिया गया है। केवल अपने देश का स्वार्थ-लाभ, भौतिक लोभ और प्रभुत्व की लालसा—ये हैं 'नेशनलिज्म' के प्रेरक आदर्श—इंगलैंड, फ्रांस, जर्मनी रूस, चीन, अमेरिका आदि इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। पर जिस धर्म से राष्ट्रप्रेमी जुड़ा है, वह श्री गुरुजी के शब्दों में 'अखंड मंडलाकार' और अपने ऋषियों के शब्दों में 'सर्वे भवंतु सुखिनः' के चरम अर्थ से सारगर्भित है। हम 'राष्ट्रवादी' नहीं हैं, हम राष्ट्रप्रेमी हैं—पूरे विश्व ही नहीं, पूरे ब्रह्मांड और पूरी सृष्टि के हित में अपने हित को देखते हैं और आत्महित में सबके हित को। 'राष्ट्रवादी' 'मैं' से 'इंडिविजुअल' होता है, 'राष्ट्रप्रेमी' 'मैं' से 'हम' होता है। राष्ट्रवाद निश्चय ही सहज वृत्ति नहीं है। यह ऊपर से कृत्रिम भावुकता और प्रशिक्षण से आवेश भरने की प्रक्रिया का फल है। पर राष्ट्रप्रेम एक सहज वृत्ति है। जैसे कृत्रिम भावुकता से प्रेम संभव नहीं, ठीक उसी प्रकार आवेश से विवेक और तर्कबुद्धि का कोई संबंध नहीं। 'महान राज्य'—रूस और चीन के विशेष संदर्भ में विश्वास रखने के कारण विवशतः मनुष्य-समाज को विकल्पहीन होकर केवल श्रम और

दीपक जब तक जल रहा है,
; जैसे ही दीपक बुझा, वह
हमारे यहां वस्तु को पदार्थ
वस्तु में एक पद है, स्वर है,
द का अर्थ, अर्थात् पदार्थ।
कर्महीन नर पावत नाहीं।'
यहां 'कथा' तक को 'वस्तु'
धर्म की पहचान।

त्तावादी राजनीति का धर्म
ौर विरोध यह है कि इससे
और राष्ट्रवाद फासिज्म
है—'देशभक्ति ने पवित्रता
एवं भावुकता ने तर्कबुद्धि

ान' और 'रेलिजन' से पैदा
ान' प्रेम के प्रति सही हैं।
ाशन' और राष्ट्र, 'रेलिजन'
'इंडिविजुअल' और व्यक्ति
ा है। केवल अपने देश का
प्रभुत्व की लालसा—ये हैं
ी—इंगलैंड, फ्रांस, जर्मनी
सके ज्वलंत उदाहरण हैं।
हुआ है, वह श्री गुरुजी के
ौर अपने ऋषियों के शब्दों
म अर्थ से सारगर्भित है।
ष्ट्रप्रेमी हैं—पूरे विश्व ही
सृष्टि के हित में अपने
हित में सबके हित को।
अल' होता है, 'राष्ट्रप्रेमी'
ाद निश्चय ही सहज वृत्ति
भावुकता और प्रशिक्षण
ा फल है। पर राष्ट्रप्रेम
म भावुकता से प्रेम संभव
से विवेक और तर्कबुद्धि
राज्य'—रूस और चीन
खने के कारण विवशतः
होकर केवल श्रम और

थोथेपन का जीवन और निजी जीवन की दृष्टि से निष्ठुर, अपवित्र, तुच्छ और अपरिष्कृत जीवन बिताना पड़ रहा है। हमने वीरतापूर्वक प्रयत्न के बाद यह शिक्षा प्राप्त की है कि सैनिकीकरण द्वारा, युद्ध द्वारा अंततः मानवीयता समाप्त हो जाती है। यह हमारा अनुभव शताब्दियों का है कि मनुष्य का अपना जीवन ठीक उसी तरह पवित्र है जितना कि दूसरों का जीवन पवित्र है। अच्छा और उत्तरोत्तर अच्छा होते चलने की इच्छा हमारी जीवन-रचना का अनिवार्य अंग है। यह सर्वदा विद्यमान रहती है—इसे जो 'देख' लेता है उसे चारों ओर से पूरी सृष्टि से आनन्दमय प्रतिभावन प्रत्युत्तर प्राप्त होता है—यह है हमारे धर्म के अध्यात्म-पक्ष की आधारभूत बात। यही है धार्मिक होना। यह तभी संभव है जब किसी व्यक्ति और उसके समाज का आंतरिक अस्तित्व और संगठन पूर्णतः सजीव और सक्षम हो। जब हम भावपूर्ण होते हैं, तब हम धार्मिक—अर्थात् सामाजिक होते हैं। जब हम अभाव में होते हैं, तब हम राजनीति करने को विवश होते हैं—इस सच्चाई को कोई भी अपने जीवन-जगत्-व्यवहार में देख सकता है।

पर 'देखना' क्या इतना सुगम है?

हमारे व्यक्ति, समाज या देश का आंतरिक अस्तित्व जितना अधिक निर्जीव हो जाता है, राष्ट्र'वादी' उद्देश्य की दृष्टि से तब हम उतने ही अधिक कार्यक्षम बन जाते हैं। हमारे सब आंतरिक प्रतिरोध समाप्त हो जाते हैं। तब हमारे जीवन के सूक्ष्म से सूक्ष्म भाव का नियमन और नियंत्रण ऐसे राजतंत्र द्वारा हो रहा होता है जो कार्यपालन में अत्यंत निष्ठावान और अमानवीय होता है, जो विकल्प को सहन नहीं कर सकता। ऐसे राष्ट्र'वादी' के लिये तब राज्य अपने आप में एक लक्ष्य बन जाता है जिसे यह अधिकार होता है कि वह हमारे आत्माओं को यंत्र बना दे।

ऐसे राज्य की स्थापना करने वाली राजनीति धर्म की दृष्टि से निर्मूल और पथभ्रष्ट है। ऐसी अंधराजनीति में केवल विकृति और अहंकार है; क्योंकि ऐसी राजनीति और उसका राज्य ज्ञान और शक्ति—दोनों दृष्टियों से अपने आपको सर्वोच्च घोषित करते हैं। दूसरों के जीवन पर 'घेरा' डालने, दूसरों की सत्ता हड़पकर अपने सैन्य-'संगठन-संचालन' से सर्वसत्ताधारी राज्य घोषित कर धर्म और ईश्वरहीन राज्य और संस्कृति का निर्माण करने के प्रयास में वह परमात्मा के विरुद्ध युद्ध छेड़ता है। तानाशाह, अधिनायक, सत्तावादी राजनेता—ये तीनों ईश्वर-विश्वास और प्रेम को, वह प्रेम चाहे परिवार और समाज के प्रति हो या देश और राष्ट्र के प्रति, समाप्त कर देना चाहते हैं, क्योंकि वे अपना कोई प्रतिद्वंद्वी नहीं देखना चाहते। हिटलर और स्टालिन की परंपरा में यह सत्तावादी राजनीति जिसका आधार हिंसा, शोषण और भय है, हमारी सभ्यता का भविष्यसूचक संकेत देती है—जहां धर्मयुद्ध अनिवार्य है।

'समाजवाद और प्रजातंत्र' के नाम पर निर्मूल धर्म-निरपेक्षता—अर्थात् ईश्वर के स्थान पर राजनेता और राज्य की पूजा, जिसमें 'सत्यमेव जयते' जैसे शब्दों से हमारी धार्मिक भावना का थोड़ा सा पुट दे दिया गया है—हमारे समय का राजनीतिक धर्म है।

राजनीति की दृष्टि में धर्म मन की कल्पना मात्र है और यदि परलोक का अस्तित्व हो भी, तब भी उसके विषय में कुछ भी नहीं जाना जा सकता। औरंगजेब से लेकर मार्क्स तक दोनों ने अपने-अपने ढंग से अपनी यही मंशा प्रकट की है कि हर कार्यवाही के लिये एक स्पष्ट और सुनियोजित कार्यक्रम है उनके पास। औरंगजेब ने तब हमारे धर्म को चुनौती दी, आज साम्यवाद, समाजवाद, सत्ता-राजनीतिवाद सब मिलकर एकजुट धर्म के विरुद्ध खड़े हैं।

धर्म में आवेश और भावुकता नहीं होती, धर्म माने है धारण-शक्ति। आवेश और भावुकता 'रेलिजन' का चरित्र है। संसार के लिये साम्यवाद की पुकार में उसी 'रेलिजन' का आवेश और भावुकता है।

समाज में सत्य, सौन्दर्य और न्याय के प्रति धारणाशक्ति बनी रहे, यही काम एक ओर धर्म का है, दूसरी ओर सच्ची राजनीति का। इसके लिये अनिवार्य यह है कि राज्य और राजनीति समाज के अधीन रहे, न कि समाज राज्य और राजनीति के अधीन हो जाय। राजा और राजनीति समाज के अधीन रहें, इसके लिये जितनी नीतियां शुक्रनीति से लेकर महाभारत और चाणक्य तक

निर्धारित की गयीं और हमारे देश में उनका सफल पालन हुआ, उसी का नाम है 'राजधर्म'। गांधी से लेकर जयप्रकाश तक वर्तमान राजनीतिक संदर्भ में इसे ही संज्ञा दी—'लोकनीति'— सत्तावादी राजनीति का एकमात्र विकल्प—लोकनीति, जहाँ लोक और जन के अधीन हो राज्य और राजनीति।

विज्ञान और 'रेलिजन' के बीच चलने वाला इतिहास-प्रसिद्ध विवाद अब नहीं है। आज आमना-सामना है धर्म और सत्तावादी निर्मूल राजनीति के बीच। साक्षात्कार है एक तानाशाही व्यक्ति अथवा दल के राज्य से हमारे आत्मा के राज्य के बीच।

८/१७ पूर्वी पटेल नगर,
नयी दिल्ली-११०००८

संदर्भ :

1. 'ए ट्रेजरी आफ वर्ल्ड्स ग्रेट लेटर्स', सम्पादक—एम. लिंकन शुस्टर, १९४१, पृ. ९०-९१

□

धर्म

धारणाद्धर्म इत्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।
यत्स्याद्धारणसंयुक्तं स धर्म इत्युच्यते॥

(धारणा से धर्म—ऐसा कहा गया है। धर्म प्रजाओं को धारण करता है। धारण करना जिसका स्वभाव हो, वह धर्म कहलाता है।)

□

ओमप्रकाश एवं शीतलाप्रसाद

भारतीय श्रमिक आन्दोलन

....(9)

भारतवर्ष में प्राचीन काल से ही लोग श्रम-संगठन का महत्व समझते थे। विभिन्न उद्योगों एवं व्यवसायों में संलग्न व्यक्ति आपस में संगठित भी थे। संगठन करने का वर्णन वैदिक ग्रन्थों में कई स्थलों पर मिलता है। वेद मनुष्यों को शिक्षा दे रहा है कि जिस प्रकार सनातन से विद्यमान दिव्य शक्तियों से सम्पन्न सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि आदि देव परस्पर अविरोध भाव से प्रेमपूर्वक अपने-अपने कार्य करते हैं, वैसे ही तुम भी एक साथ कार्यों में प्रवृत्त होकर एक मत में रहो और परस्पर सद्भाव बरतो–

'संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवाभागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते'।।[1]

ऋग्वेद यह उपदेश देता है कि 'तुम्हारे अभिप्रायों में, तुम्हारे हृदयों अथवा भावनाओं में और तुम्हारे मनों में एकता की भावना रहनी चाहिए, जिससे तुम्हारी सांघिक और सामुदायिक शक्ति का विकास हो'—

'समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति'।।[2]

अथर्ववेद भी इसी प्रकार मनुष्यों को संगठन का उपदेश देते हुए कहता है कि सभी लोग एक दूसरे से प्रेमपूर्वक सत्य, प्रिय एवं हितकर भाषण करते हुए आगे बढ़ें, अलग-अलग न हों, परस्पर विरोध न करें, प्रत्युत् संगठित होकर शान्ति से रहें—

'मा वियोष्ट अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत'।[3]

शुक्ल यजुर्वेद-संहिता में कहा गया है कि संगठित होकर रहने से तुम्हें कोई भयभीत न कर सकेगा। इस प्रकार संगठन की उपयोगिता पर प्रकाश डाला गया है: "अनाधृष्टाः सीदत सहौजसः।"[4] ऋग्वेद में 'गण' और 'व्रात'[5] के उल्लेख मिलते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में 'श्रेष्ठी'[6] शब्द मिलता है; वाजसनेयी संहिता 'गण' और 'गणपति'[7] का उल्लेख करती है। अर्थशास्त्र में 'श्रेणी'[8] को कर्मचारियों का समूह माना गया है। अन्य शास्त्रों में श्रेणी पूग, गण, व्रात और संघ शब्दों का प्रयोग इसी सन्दर्भ में

किया गया है। कात्यायन ने इन्हें समूह की संज्ञा दी है—

'गणाः पाषण्ड पूगाश्च व्राताश्च श्रेणयस्तथा।
समूहस्थाश्च ये चान्ये वर्गाख्यास्ते बृहस्पतिः'।।[६]

'श्रेणी' शब्द का प्रयोग वैदिक साहित्य में भी किया गया है। वहाँ इसका तात्पर्य समूह से है। ऋग्वेद में ऐसा उल्लेख आया है कि हंसों की भांति अश्व भी समूह में पंक्तिबद्ध थे—

'हंसा इव श्रेणिशो यतन्ते यदाक्षिषुर्दिव्यमज्यमश्वाः'।[७]

आपस्तम्ब धर्मसूत्र में शिक्षा के लिये जाते हुए ब्रह्मचारियों के एक संघ का उल्लेख आया है : 'तस्मादृ ह वै ब्रह्मचारिसंघं चरन्तं न प्रत्याचक्षीतापि हैतेष्वेवंविध एवं व्रतः स्यादिति हि ब्राह्मणम्'।[८] पंतजलि के महाभाष्य से यह ज्ञात होता है कि 'व्रात' मनुष्यों का ऐसा समूह था जिसमें अनिश्चित जीविका वाले विभिन्न जातियों के लोग सम्मिलित थे —

'नाना जातीया अनियतवृत्तय उत्सेधृ जीवितः संघा।
व्राताः तेषां कर्मव्रातं तेन व्रात कर्मणा जीवतीति
व्रातीनः'।[९]

बृह० उपनिषद् के निम्न उद्धरण से प्राचीन काल के आर्थिक जीवन की संगठित गतिविधियों पर प्रकाश पड़ता है :

'स नैव व्यभवत्, स विशमसृजत, यान्येतानि देव-
जातानि गणश आख्यायन्ते'।[१०]

वैदिक काल में विभिन्न हस्तकलाओं के विकास के साथ ही साथ कर्मचारियों के प्रारंभिक संगठनों का भी उल्लेख मिलता है।[११] प्रोफेसर के० टी० शाह के अनुसार प्राचीन काल के कर्मचारियों तथा हस्तकारों के संगठन की तुलना वर्तमान समय के श्रम-संगठनों से की जा सकती है।[१२] वैश्य तथा शूद्र जातियों ने संगठन द्वारा ही शोषण से अपनी रक्षा की, साथ ही साथ अपनी आर्थिक स्थिति में सुधार भी किया।[१३]

प्राचीन काल में संगठन धीरे-धीरे सुदृढ़ होते गये और कर्मचारियों ने इनके द्वारा अपनी स्थिति सुधारने के लिये प्रयत्न किया। शिल्पी और श्रमिकों की स्थिति में पर्याप्त सुधार हो गया था और वे बिना जनता की सहायता के समुचित वेतन प्राप्त कर लेते थे।[१४] इन संगठनों का कार्य केवल संगठन के सदस्यों के हित-साधन तक ही सीमित नहीं था, वरन् जनोपयोगी कार्य, जैसे—यात्रियों के लिये विश्रामगृह, मन्दिर, तालाब आदि का निर्माण भी उनके कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत था। निर्धनों की सेवा करना भी उनका कर्तव्य था—

'सभाप्रपादेवगृहतडागाराम संस्कृतिः।
तथा नाथ दरिद्राणां संस्कारोयजन क्रिया।।
कुलायनं निरोधश्च कार्यस्माभिरंशतः'।[१५]

ये संगठन प्राचीन काल में शिल्प तथा कला के विकास में ही सहायक नहीं थे, अपितु शक्ति के केन्द्र थे। उदार संस्कृति तथा उन्नति के कारण ये समाज के आभूषण भी बन गये थे।[१६]

गौतम ने यह व्यवस्था दी है कि कृषक, वणिक, पशु-पालक और कारीगरों के नियम संगठन के अन्तर्गत मान्य थे—

'देश जाति कुल धर्माश्चाम्नायैर विरुद्धाः प्रमाणम्।
कर्षक वणिक् पशुपाल कुसीदि कारवः स्वे स्वे वर्गे।।'[१७]

कभी-कभी एक व्यक्ति द्वारा किये गये उत्तरदायित्वहीन कार्य का फल पूरे समुदाय को उसी प्रकार भोगना पड़ता है, जिस प्रकार कि एक व्यक्ति द्वारा मधुमक्खी के छत्ते को छेड़ने पर उसका दुष्परिणाम आसपास के सभी लोगों को भोगना पड़ता है—

'एक पापानि कुरुते फलं भुंक्ते महाजनः।
भोक्तारो विप्रमुच्यन्ते कर्ता दोषेण लिप्यते'।[१८]

इसीलिये उचित नेतृत्व के लिये बृहस्पति ने विश्वसनीय, कुशल तथा योग्य व्यक्ति को ही संगठन का अध्यक्ष बनाये जाने के लिये कहा है—

'शुचयो वेदधर्मज्ञा दक्षा दान्ताः कुलोद्भवाः ।
सर्वे कार्यं प्रवीणाश्च कर्तव्यास्तु महत्तमाः ।।[२९]

इसके साथ ही साथ संगठनों की सदस्यता के संबंध में भी कड़े नियम बना दिये गये थे, जिससे योग्य एवं उत्तरदायी व्यक्ति ही सदस्यता प्राप्त कर सकें और इसीलिये आत्म-विश्वास रहित, आलसी या अधिक आयु अथवा बहुत ही कम आयु के लोगों को सदस्यता देने की परम्परा नहीं थी—

'विद्वेषिणो व्यसनिनः शालीनाल समीरवः ।
लुब्धाति वृद्धबालाश्च न कार्याः कार्यचिन्तकाः' ।।[३०]

इन संगठनों का कार्य प्रजातांत्रिक प्रणाली पर आधारित था । यदि संगठन का अध्यक्ष किसी सदस्य को अकारण हानि पहुंचाना चाहता था तो राज्य पीड़ित व्यक्ति के संरक्षण की व्यवस्था करता था—

'बाधा कुर्युर्यदेकस्य सम्भूता द्वेषसंयुताः ।
राज्ञाते विनिवार्यास्तु शास्याश्चैवानुबन्धितः ।।[३१]

यदि संगठन के सदस्यों तथा अध्यक्ष में कोई विवाद उत्पन्न हो जाय तो यह राजा का कर्तव्य था कि दोनों का विवाद दूर कर मेल करा दे—

'मुख्यैः सह समूहानां विसंवादो यदा भवेत् ।
तदा विचारयेद्राजा स्वमार्गे स्थापयेच्चतान्' ।।[३२]

बृहस्पति के मतानुसार संगठन अपने सदस्यों के विषय में जो निर्णय दे, चाहे वह दयारहित हो अथवा दयापूर्ण हो, राजा को उसे स्वीकार करना चाहिए ।[३३]

कौटिल्य ने शिल्पियों तथा कर्मचारियों के संगठन के सम्बन्ध में अच्छी तरह प्रकाश डाला है । कौटिल्य के अनुसार संगठनों का नियंत्रण तीन प्रदेष्टाओं के परिषद् द्वारा किया जाना चाहिए, तथा प्रवेशशुल्क और सदस्यता-शुल्क अध्यक्ष के पास संगृहीत किया जाना चाहिए ।[३४] संगठन को होने वाला लाभ सदस्यों में समान रूप से वितरित कर दिया जाता था—

'संघभूताः संभूयसमुतथातारो वा यथा संभाषितं वेतनं समं वा विभजेरन्' ।[३५]

शिल्पियों या श्रमिकों के संगठन अधिक शक्तिशाली बनने के लिये अथवा परिस्थिति का सामना करने के लिये आपस में समझौता भी कर लेते थे । ऐसे समझौते लिखित रूप में या किसी मध्यस्थ के सामने होते थे—

'कोशेन लेख्य क्रिययामध्यस्थैर्वा परस्परम् ।
विश्वासं प्रथम कृत्वा कुर्युः कार्याण्यनन्तरम् ।।[३६]

सदस्यों को अनुशासन में रखने के लिये कर्तव्य-पालन पर बड़ा बल दिया जाता था । संगठन के प्रति कर्तव्य-पालन न करने पर सदस्य को क्षमा नहीं किया जा सकता था—

'जाति श्रेण्यधिवासानां कुलधर्माश्च सर्वतः ।
वर्जयन्ति च ये धर्मं तेषां धर्मो न विद्यते' ।।[३७]

मनु की राय में संगठन के नियम तथा विधान का उल्लंघन करने पर सदस्य को दंड या कारागार तक दिया जा सकता था—

'यो ग्राम देश संघानां कृत्वा सत्येन संविदम्,
विसंवदेन्नरो लोभात्तं राष्ट्राद्धि प्रवासयेत् ।।
निगृह्य दापयेच्चैनं समय व्यभिचारिणम् ।
चतुः सुवर्णान् पणिष्कांच्छतमानं च राजतम्' ।।[३८]

याज्ञवल्क्य के अनुसार संगठन की सम्पत्ति हड़पने वाले की सम्पत्ति जब्त कर लेने तथा उसे देशनिकाला देने की व्यवस्था है । इसी प्रकार यदि वह नियमोल्लंघन करता है अथवा अपना कर्तव्य-पालन नहीं करता, तो भी उसे दंड मिलना चाहिए—

'गण द्रव्यं हरेद्यस्तु संविदं लङ्घयेच्चयः ।
सर्वस्वहरणं कृत्वा तं राष्ट्राद्धिप्रवासयेत् ।।
कर्तव्य वचनं सर्वैः समूह हितवादिनाम्।
यस्तत्र विपरीतः स्यात्सः दाप्यः प्रथमं दमम्' ।।[३९]

यदि वह संगठन के सदस्यों से संघर्ष करता या कार्य में

असावधानी बरतता था तो उस पर चौबीस निष्क दंड किया जा सकता था—

'तत्रभेदमुपेक्षां वा यः कश्चित्कुरते नरः।
चतुः सुवर्णाः षण्निष्कास्तस्य दण्डोविधीयते'॥[३३]

कौटिल्य की राय में संगठन के सदस्य को एक बार अपराध करने या चोरी करने पर क्षमा किया जा सकता है।[३४] परन्तु यदि वह दुबारा अपराध करता है या अपराध गंभीर है तो उसे अपराधी समझा जाता था और अपराधी को दंडित किया जाता था।[३५]

रामायणकाल में एक ही प्रकार के उद्योग धन्धों में काम करने वाले शिल्पियों या श्रमिकों के अपने-अपने संघ होते थे। इस प्रकार के संघों का सामूहिक संगठन 'नैगम' कहलाता था। नागरिक और राजकीय कार्यों में 'नैगमों' का महत्वपूर्ण स्थान था। राम के प्रस्तावित यौवराज्याभिषेक में सम्मिलित होने के लिये नैगमों के प्रतिनिधि आये थे—

'पौर जान पदश्रेष्ठा नैगमाश्च गणैः सह।
अभिषेकाय रामस्य सह तिष्ठन्ति पार्थिवैः'॥[३६]

राम को अयोध्या लौटा लाने के लिये नैगमों के प्रतिनिधि भी भरत के साथ चित्रकूट गये थे—

'ये च तत्रापरे सर्वे सम्मता ये च नैगमाः।
रामं प्रति ययुहृष्टाः सर्वाः प्रकृतयः शुभाः'॥[३७]

इनमें मणिकार, हाथीदांत का काम करने वाले, काष्ठ की खुदाई करने वाले आदि सभी श्रमिक वर्गों के लोग थे।[३८] श्री रामचन्द्रजी के राज्यारोहण के समय भी नैगमों के प्रतिनिधियों ने उनका अभिषेक किया था—

'योधैश्चैवाभ्यषिंचस्ते सम्प्रहृष्टैः सनैगमैः'॥[३९]

पाणिनि के सूत्रों में इसके लिये चार शब्द मिलते हैं—गण, पूग, व्रात, और संघ। आरंभिक बौद्ध ग्रन्थों में 'संघ' 'पूग', 'सेना' और 'गण' शब्द मिलते हैं। बौद्ध और जैन ग्रन्थों में संघ धार्मिक संगठन के अर्थ में आता है। पूग और श्रेणी के वर्णन से प्रतीत होता है कि इन संस्थाओं का उद्देश्य व्यापारिक उन्नति भी था। लगभग प्रत्येक शिल्प या व्यवसाय में लगे हुए व्यक्तियों का अपना संगठित समूह था, जिसे 'श्रेणी' कहते थे। एक-एक श्रेणी में एक-एक हजार तक शिल्पी होते थे। प्रत्येक श्रेणी का एक प्रधान या मुखिया चुना जाता था, जिसे पामोक्ख (प्रमुख) या जेट्ठक (ज्येष्ठक) कहते थे।[४०]

जेट्ठकों का राजसभा में बड़ा सम्मान था। वे वहाँ अपने संघ का प्रतिनिधित्व करते थे। दरबार में उन्हें उच्च पद भी दिया जाता था।[४१] श्रेणियों में प्रशिक्षा प्राप्त करने वालों को अन्तेवासिन कहते थे।[४२] जातक ग्रन्थों में मालियों, नाविकों, काफिले वाले व्यापारियों आदि के जेट्ठकों का उल्लेख किया गया है।[४३]

नासिक के शिलालेख संख्या १५ से हमें ज्ञात होता है कि ईश्वरसेन के राज्य-काल में कुम्हारों के संगठन के कोष में एक सहस्र कार्षापण, तेल-कर्मचारियों के संगठन के कोष में ५०० कार्षापण तथा पानी वाले कर्मचारियों के संगठन के कोष में २००० कार्षापण स्थायी दान के रूप में जमा थे जिनके ब्याज से लोगों को ओषधि दी जाती थी।[४४] नासिक के नवें और दसवें शिलालेखों से जुलाहों के संगठन के कोष में धन-संग्रह करने का उल्लेख है।[४५] मथुराब्राह्मी शिलालेख से आटा पीसने वाले व्यक्तियों के संगठन का भी पता चलता है।[४६] जूनर के बौद्ध गुफा लेख से बांसकरों तथा कांसाकारों के संगठन के पास द्रव्य संगृहीत करने का वर्णन मिलता है।[४७] स्कन्दगुप्त के इन्दौर वाले ताम्रपत्र से तेल उद्योग में लगे हुए कर्मचारियों के पास द्रव्य संग्रहीत होने का पता चलता है।[४८] लता (दक्षिण गुजरात) के रेशम बनाने वाले जुलाहों के संगठन द्वारा दसपुरा (मालवा) में सूर्य-मन्दिर का निर्माण करने का उल्लेख हुआ है।[४९] इन प्रमाणों से यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि कर्मचारियों के संगठन उस समय सुव्यवस्थित थे और उनकी आर्थिक स्थिति भी सुदृढ़ थी तथा उन्हें समाज का विश्वास भी प्राप्त था। हमें तत्कालीन १८ संगठनों के अस्तित्व का पता चलता है।[५०] 'कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया' का यह विचार कि उस समय मुख्य रूप से केवल चार संगठन ही

संगठित थे, उचित नहीं प्रतीत होता।[५१] श्री आर० सी० मजूमदार ने जातक, अन्य ग्रन्थों तथा शिलालेखों के आधार पर २८ संगठनों की निम्नलिखित सूची प्रस्तुत की है।[५२]

(१) लकड़ी के कार्यों में लगे कर्मचारी (गृह तथा जहाज-निर्माण करने वाले कर्मचारी), (२) लोह, रजत, स्वर्ण आदि धातुओं के कार्य में संलग्न कर्मचारी, (३) चमड़ा बनाने वाले, (४) हाथी के दांत पर नक्काशी करने वाले, (५) रंगाई करने वाले, (६) जौहरी, (७) मधुबे, (८) बधिक, (९) नाई तथा तेल मालिश करने वाले, (१०) पुष्पहार बनाने वाले तथा पुष्प बेचने वाले, (११) मल्लाह, नाविक, (१२) टोकरी बनाने वाले, (१३) चित्रकार, (१४) व्यापारियों का दल, (१५) जंगल में व्यापारियों की देखरेख करने वाले रक्षक, (१६) बुनकर, (१७) कुम्हार, (१८) जलशक्ति से चालित इंजन में काम करने वाले, (१९) तिलापिशक, (२०) वासाकर, (२१) कांसाकार, (२२) धमनिका, (२३) किसान, (२४) ऋण देने वाले महाजन, (२५) व्यापारी, (२६) पशुपालक, (२७) पत्थर के कार्य में संलग्न कर्मचारी, (२८) दस्यु। जातक से पता चलता है कि इन संगठनों के अध्यक्षों को राज्य में कभी-कभी उच्च पद भी दिया जाता था और वे राजा के प्रिय पात्र थे।[५३]

राज्यश्री के विवाहोत्सव-वर्णन में बाण ने चमडा कर्मचारियों के संगठन, बढ़इयों के तथा गारा करने वाले कर्मचारियों के संगठन का उल्लेख किया है।[५४] हर्ष की मृत्यु के पश्चात् गुर्जर प्रतिहारों के शासन-काल में कुम्हार, पान बेचने वाले, घोड़े क्रय-विक्रय करने वालों के संगठनों का पता चलता है।[५५] श्रेणी संघ के अतिरिक्त कलौज में श्रमिकों और पूंजीपतियों के भी संगठन थे।[५६]

महाराष्ट्र के गुफा मन्दिरों के निर्माण में स्वर्णकार, बढ़ई तथा कृषकों के संगठनों ने दान दिया था।[५७] जुलाहों के संगठन के पास द्रव्य संग्रहीत करने का भी उल्लेख मिलता है। द्रव्य के ब्याज से पुरोहितों को वर्षा ऋतु में वस्त्र दिये जाते थे।[५८] उज्जैन के विक्रमादित्य के समय में शिल्पी, हस्तकार को सामूहिक रूप से 'कारू' या 'शिल्पी' कहा जाता था। ये पूर्ण रूप से संगठित थे। इनका संगठन 'श्रेणी' या 'कुल' के नाम से प्रसिद्ध था। संगठन के संचालन के लिये इनके अपने नियम थे; कुल या श्रेणी का अध्यक्ष 'कुलक' या 'कुलश्रेष्ठी' कहा जाता था।[५९]

कालिदास के समय में एक व्यवसाय करने वाले शिल्पियों के संगठन को 'संघ' कहते थे। हम रघुवंश[६०] में एक शिल्पि-संघ तथा अभिज्ञान शाकुन्तलम्[६१] में एक संघ-प्रधान का नामोल्लेख पाते हैं। नैगम[६२] तथा श्रेष्ठी[६३] शब्द भी हमें मिलते हैं।

गुप्तकाल के शिलालेखों से प्रतीत होता है कि प्रत्येक संगठन में एक नेता होता था जिसका देश के शासन पर कुछ प्रभाव रहता था।[६४] गुप्तकालीन नाटक साहित्य में भी संगठनों का उल्लेख हुआ है। मुद्राराक्षस नाटक में पाटलीपुत्र में 'श्रेष्ठिन' के संगठन का वर्णन किया गया है।[६५]

मंगोली के शिलालेख से पता चलता है कि तेल-कर्मचारियों, जुलाहों, टोकरी बनाने वालों के संगठनों द्वारा दान दिया गया था।[६६] इन संगठनों की कार्य-प्रणाली पर भी प्रकाश पड़ता है। लक्ष्मेश्वर के जुलाहों के संगठन में एक अध्यक्ष था। मुलगंद के संगठन में ४ अध्यक्ष थे और उनकी सदस्य-संख्या २००० थी। मिराज शिलालेख में वर्णित विरावालाजू संगठन की कार्यकारिणी में १५ व्यक्ति थे।[६७]

मुस्लिम सुलतानों तथा बादशाहों के शासन में कर्मचारियों की स्थिति गिर गयी थी, ऐसा प्रतीत होता है। बादशाह का फर्मान तथा सूबेदारों के लिखित आदेश श्रमिकों को किसी भी वेतन पर उनके घर से पकड़ लाने के लिये पर्याप्त थे।[६८] मोरलैण्ड के कथनानुसार उन दिनों कर्मचारियों का वेतन बहुत ही कम था और उन्हें नियमित रूप से केवल एक ही बार भोजन मिल पाता था।[६९]

मुगल शासन-काल में श्रमिक उच्च वर्ग की इच्छा पर निर्भर थे और उनसे बलपूर्वक कार्य भी लिया जाता था। यदि मालिक चाहता था तो श्रमिक को वेतन दे देता था अन्यथा

मारपीट कर बाहर निकाल देता था। मालिक एक प्रकार से पूर्ण स्वतंत्र था, जिसके प्रतिकूल कोई अपील नहीं थी।[७०]

ऐसा प्रतीत होता है कि मुस्लिम राज्य में श्रमिकों एवं कर्मचारियों में प्रजातांत्रिक भावना का धीरे-धीरे लोप होने लगा। शासकीय कोप की आशंका से संगठनों में सम्मिलित होने से वे भयभीत होने लगे और इस प्रकार वैदिक काल से चले आते हुए संगठन धीरे-धीरे समाप्त हो गये। फलस्वरूप मुगलों के शासन-काल में भी कर्मचारियों के संगठन नहीं थे, जो उनकी समस्याओं को संगठित रूप से हल करने का प्रयास करते।[७१]

वर्तमान व्यावसायिक संघों का अभ्युदय, विश्व के अन्य देशों की ही भांति, इस देश में भी औद्योगीकरण के सन्दर्भ में हो रहा है। १८वीं सदी के मध्य से ही भारत में वर्तमान औद्योगिक युग माना जा सकता है। १८५३ ई० में बम्बई में पहली सूती मिल स्थापित की गयी, तदनन्तर प्रमुख औद्योगिक नगरों में अन्य उद्योग क्रमशः स्थापित होते गये और उनमें संलग्न कर्मचारियों में भी निरन्तर वृद्धि होती गयी। ग्रामीण क्षेत्रों में जनसंख्या की वृद्धि तथा कुटीर उद्योगों में ह्रास होने से वहाँ से लोग जीविका की खोज में नगरों में बढ़ने लगे। कारखानों या औद्योगिक संस्थानों में जहाँ बड़ी संख्या में लोग कार्य करते हैं, वहाँ उनकी सामूहिक समस्याएं भी रहती हैं, जैसे कम वेतन, कार्य के अधिक घंटे आदि। कर्मचारी इन समस्याओं पर आपस में विचार-विमर्श करके संयुक्त रूप से एक निर्णय भी लेने लगे। इस प्रकार कर्मचारियों में एक तो वर्गचेतना उत्पन्न हुई, दूसरे, कर्मचारियों की संख्या अधिक होने के कारण सेवा-योजक अथवा स्वामियों से व्यक्तिगत सम्पर्क रखना भी सम्भव नहीं रह गया। अतएव उन्हें श्रम-संघ में आबद्ध होने की आवश्यकता प्रतीत हुई, जिससे वे संयुक्त रूप से अपनी कठिनाइयाँ रख सकें।

वर्तमान भारतीय श्रम-संघ-आन्दोलन की गतिविधियों को सुविधानुसार देखने हेतु इसे हम निम्नलिखित भागों में विभाजित कर सकते हैं :—

प्रथम चरण—१८७५ ई० से १९१८ ई० तक
द्वितीय चरण—१९१९ ई० से १९२४ ई० तक
तृतीय चरण—१९२५ ई० से १९३५ ई० तक
चतुर्थ चरण—१९३६ ई० से १९४६ ई० तक
पंचम चरण—१९४७ ई० से वर्तमान समय तक

प्रथम चरण

डा० पुरीकर ने १८७५ ई० से १९१७ ई० तक के समय को प्रारंभिक श्रम-आन्दोलन का समाज-कल्याण-काल माना है।[७२] डा० रजनीकान्त दास ने श्रम-आन्दोलन के प्रारम्भिक काल (१८७५ ई० से १९१८ ई०) को दो भागों में विभक्त किया है। पहले काल १८७५ ई० से १८९१ ई० को उन्होंने नियम-काल माना है, जबकि कारखानों में कार्य करने वाले बच्चों तथा स्त्रियों के लिये अधिनियम बनाये गये और दूसरे काल १८९१ ई० से १९१८ ई० को समाप्ति-काल माना है, जिसमें भारतीय श्रमिकों को विदेशों में भेजने की कुप्रथा समाप्त हुई।[७३]

१८वीं सदी के मध्य से भारतीय श्रमिक अफ्रीका, मलाया, बर्मा, लंका, फिजीलैण्ड्स आदि देशों में कार्य करने के लिये जाते थे। वहाँ उनकी स्थिति बड़ी ही दयनीय थी। देश के समाज-सुधारकों ने उनकी स्थिति में सुधार करने के लिये समय-समय पर आन्दोलन भी संचालित किये। अन्ततः सरकार को बाध्य होकर १९१७ ई० से विदेश के लिये भारतीय श्रमिकों की भर्ती बन्द करनी पड़ी और १९२२ ई० से यह प्रथा ही समाप्त कर दी गयी। देश में चाय, कहवा आदि उद्योगों में कर्मचारियों की स्थिति अच्छी नहीं थी। आगे चलकर महात्मा गांधी ने १९१६ ई० में इन कर्मचारियों की स्थिति सुधारने के लिये चम्पारण (बिहार) में सत्याग्रह-आन्दोलन चलाया।

श्री नारायण मेघजी लोखंडे ने १८८४ ई० में श्रमिकों की मांग रखने के लिये उन्हें सर्वप्रथम संगठित करने का प्रयास किया और बम्बई में श्रमिकों की एक सभा बुलायी जिसमें अनेक प्रस्ताव पारित किये गये। इन प्रस्तावों में साप्ताहिक छुट्टी, कार्य के दिनों में आधे घण्टे का अवकाश, दुर्घटना होने पर समुचित क्षतिपूर्ति, नियमित वेतन-वितरण इत्यादि मांगें सम्मिलित थीं। इन मांगों का एक ज्ञापन भारतीय कारखाना आयोग के पास भी भेजा

गया और १८९० ई० में बम्बई के मिल मालिकों के संघ के पास भी एक ज्ञापन भेजा गया। मिलमालिकों ने श्रमिकों को साप्ताहिक अवकाश देने की मांग को स्वीकार कर लिया। इससे प्रोत्साहित होकर श्री लोखंडे ने १८९० ई० में प्रथम श्रम-संघ का गठन किया, जिसका नाम 'बम्बई मिल हैण्ड्स एसोशियेशन' रखा। इस संघ ने अपने उद्देश्य एवं गतिविधियों के प्रचार के लिये तथा कर्मचारियों की मांगों को अधिकारियों तक पहुँचाने के लिये 'दीनबंधु' नामक पत्र का प्रकाशन भी प्रारम्भ किया। इस श्रम-संघ ने न तो कोई विधान ही बनाया और न इसके नियमित सदस्य ही थे। श्रम-संघ के पास कोई नियमित कोष भी नहीं था, अतएव इसे कल्याणकारी संस्था ही कहा जा सकता है।[७४]

भारत में सर्वप्रथम कारखाना अधिनियम १८८१ ई० में पारित हुआ। यहां सस्ती मजदूरी तथा अधिक काम के घंटों के कारण वस्त्र-उत्पादन इंगलैण्ड की तुलना में सस्ती दर पर होता था, इससे वहाँ के उद्योगपतियों को बड़ी चिन्ता हुई और उन्होंने भारतीय श्रमिकों की कार्य-स्थिति में परिवर्तन लाने के लिये प्रयत्न किये। नवम्बर १८८८ ई० में 'मैनचेस्टर चैम्बर आफ कामर्स' ने इस आशय का एक प्रस्ताव पारित किया कि ब्रिटिश भारत की सूती मिलों में कर्मचारियों से अधिक समय तक काम लिया जा रहा है, अतः ब्रिटिश कारखाना अधिनियम की धाराओं को भारतीय सूती कारखानों में भी महिलाओं तथा बच्चों पर लागू किया जाना चाहिए।[७५]

श्रमिकों की प्रारम्भिक मांगें, काम के घण्टों व छुट्टियों को नियमित करने, काम के घण्टों में अवकाश की व्यवस्था करने, नियमित रूप से वेतन प्राप्त करने तथा मालिकों द्वारा दुर्व्यवहार समाप्त करने के संबंध में थीं।[७६] शाही श्रम-आयोग के अनुसार १९१८–१९१९ ई० से पूर्व भारतीय उद्योग में हड़तालें बहुत ही कम हुई।[७७] डा० रा० के० दास के अनुसार १८८२ ई० और १८९० ई० के बीच २५ हड़तालें हुईं और वे देश के विभिन्न भागों में हुईं।[७८]

नागपुर की इम्प्रेस मिल के कर्मचारियों ने १८७७ ई० में अपने वेतन दर के संबंध में विरोध-स्वरूप हड़ताल की। 'अहमदाबाद मिल ओनर्स एसोशियेशन' द्वारा पाक्षिक वेतन-वितरण-प्रणाली को साप्ताहिक कर देने पर अहमदाबाद के बुनकरों ने १८९५ ई० में हड़ताल कर दी, यद्यपि उन्हें सफलता नहीं मिली। १८९७ ई० में बम्बई में भी कुछ हड़तालें हुईं। मद्रास 'गवर्नमेंट प्रेस' में अवैतनिक 'ओवर टाइम' के प्रश्न पर हड़ताल हुई। १९०५ ई० में भारत-सरकार के कलकत्ता के प्रेस कर्मचारियों ने लगभग एक मास की हड़ताल की। १९०७ ई० में वेतन-वृद्धि के प्रश्न पर समस्तीपुर 'रेलवे वर्कशाप' में भी हड़ताल हुई।[७९] ये हड़तालें संगठित रूप से संचालित नहीं थीं, वरन् उत्पन्न समस्याओं के समाधान के लिये कर दी जाती थीं। ग्रामीण कर्मचारी बहुधा हड़ताल के ऐसे अवसरों पर अपने गाँव लौट जाते थे और हड़ताल में सक्रिय सहयोग नहीं देते थे।

वुचनन महोदय ने १९०८ ई० तक के भारतीय श्रम-संघों की प्रगति के सम्बन्ध में इस प्रकार विचार प्रकट किया है—"भारतीय श्रमिकों ने श्रम-संघों के सम्बन्ध में अनियमित प्रयत्न किये। यदि कभी संगठित रूप से प्रयास भी किया गया तो वह किसी नियमित 'ट्रेड यूनियन' कार्य के लिये नहीं, वरन् किसी अस्थायी, स्थानीय अथवा व्यक्तिगत शिकायत पर मिल मजदूरों की भीड़ को उभाड़ने के लिये"।[८०]

बम्बई में १९०९ ई० में 'कामगार हितवर्धक सभा' तथा १९११ ई० में 'सोशल सर्विस लीग' की स्थापना हुई। श्रमिक-कल्याण के क्षेत्र में कामगार हितवर्धक सभा ने यथोचित योगदान दिया और समय-समय पर कर्मचारियों की आपत्तियों एवं कष्टों को दूर करने के लिये सेवायोजकों से बातचीत की। 'सोशल सर्विस लीग' ने श्रमिक-कल्याण एवं शिक्षा के क्षेत्र में प्रशंसनीय कार्य किये। इसी प्रकार की एक अन्य संस्था 'ब्रह्म समाज' द्वारा कलकत्ता में १८७८ ई० में 'किंग मेन्स मिशन' नाम से संस्थापित की गयी। यह संस्था श्रमिकों के हितार्थ रात्रि-पाठशालाओं का संचालन करती थी। १९०५ ई०में वहाँ 'वर्किंग मेन्स इन्स्टीट्यूशन नामक दूसरी संस्था भी स्थापित की गयी।[८१] श्रमिकों के वेतन की नीची दरें, रहने की नारकीय स्थिति, काम का अत्यधिक बोझ आदि बातों को देखकर कुछ दयालु

सामाजिक कार्यकर्त्ताओं ने श्रमिकों में सामाजिक चेतना जागृत करने का प्रयास किया।

इस समय कुछ अन्य श्रम-संघ भी स्थापित किये गये, जिनमें १८९७ ई० में भारत और बर्मा के रेलवे कर्मचारियों की सम्मिलित समिति का संगठन भी हुआ। इस समिति का पंजीयन (रजिस्ट्रेशन) भारतीय समवाय अधिनियम (कम्पनी एक्ट) के अन्तर्गत हुआ था। यह संस्था एक प्रकार से पारस्परिक सुरक्षा-समिति के रूप में कार्य करती रही। १९०५ ई० में कलकत्ता में 'प्रिण्टर्स यूनियन' तथा १९०७ ई० में बम्बई में 'पोस्टल यूनियन' की स्थापना की गयी। भारतीय श्रम-संघों के विकास में ये अत्यन्त महत्वपूर्ण शृंखलाएं हैं। इन संस्थाओं के जन्म लेने के पश्चात् ही १९११ ई० में कारखाना अधिनियम भी संशोधित किया गया।

उस समय के स्वदेशी आन्दोलन का भारतीय श्रम-आन्दोलन पर प्रभाव भी उल्लेखनीय है। फलतः अनेक राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं ने श्रम-संघों का कार्य अपने हाथ में लिया और उनके हितों की रक्षा का भार उठाया। १९०५ ई० और १९०९ ई० के बीच अनेक महत्वपूर्ण संघर्ष भारतीय श्रमिकों ने किये। भारतीय स्वातंत्र्य-युद्ध का शंखनाद इसी समय फूंका जा चुका था। १९०८ ई० में बम्बई के श्रमिकों ने भी लोकमान्य तिलक के कारावास के विरोध में आम हड़ताल की, जो राजनीतिक प्रश्न पर श्रमिकों का प्रथम शक्ति-प्रदर्शन था।

वर्तमान श्रम-संघवाद के आधार पर देश में १९१८ ई० में श्री बी० पी० वाडिया के प्रयत्नों से 'मद्रास लेबर यूनियन' की सर्वप्रथम स्थापना हुई। 'मद्रास लेबर यूनियन' अल्पकाल में ही बड़ी लोकप्रिय हो गयी। श्री लोकनाथन के अनुसार "मद्रास का कोई भी सूती मिल मजदूर इस यूनियन के बाहर नहीं रहा और यह यूनियन अल्पकाल में ही बहुत शक्तिशाली बन गयी।"[८३] इस श्रम-संघ में सदस्यता-शुल्क एक आना मासिक रखा गया था। श्रमिकों को उस समय बारह घंटे दैनिक कार्य करना पड़ता था तथा उन्हें बहुत ही कम वेतन मिलता था। श्रमिकों ने इनमें सुधार के लिये हड़ताल कर दी, बाद में मालिकों ने तालाबंदी घोषित की। श्री वाडिया पर क्षतिपूर्ति का मुकदमा न्यायालय में चलाया गया, जिसे 'डिक्री' भी मिली। भारतीय श्रमिक वर्ग में इससे बड़ा असन्तोष हुआ। ब्रिटिश 'लेबर पार्टी' ने भी तत्कालीन भारत-सचिव का ध्यान इस ओर आकर्षित किया, परन्तु उस समय श्रम-संघों के संबंध में कोई विधान न होने के कारण कुछ भी नहीं किया जा सका।

'मद्रास यूनियन' के साथ ही अन्य स्थानों में भी श्रम-संघ स्थापित किये गये। १९१८ ई० में बम्बई में दो, कलकत्ता में एक तथा मद्रास में चार संघ स्थापित किये गये। दूसरे वर्ष दस श्रम-संघ स्थापित किये गये—बम्बई में पांच, मद्रास में दो, तथा बंगाल, संयुक्त प्रान्त (यू० पी०) और पंजाब में एक-एक। इनमें 'एम० एस० एम० रेलवे एम्पलाइज यूनियन' मद्रास तथा 'सीमेंट यूनियन' बम्बई उल्लेखनीय रहे। १९२० ई० में और भी बहुत से श्रम-संघ स्थापित किये गये, जिनमें 'अहमदाबाद टैक्सटाइल लेबर एसोशियेशन' भी थी। 'आल इन्डिया पोस्टल एंड आर० एम० एस० एसोशियेशन' की १९१९-१९२० ई० में सात प्रान्तीय शाखाएँ खोली गयीं और उनकी कुल सदस्य-संख्या २०,००० थी।[८४]

द्वितीय चरण

वास्तव में प्रथम महायुद्ध की समाप्ति के पश्चात् ही देश में वास्तविक श्रम-संघों का इतिहास प्रारम्भ होता है। इस दिशा में कई कारणों का संयुक्त प्रभाव भी भारतीय श्रमिक-आन्दोलन पर पड़ा है। देश की आर्थिक स्थिति के कारण वस्तुओं का मूल्य बढ़ गया था, परन्तु उस अनुपात में श्रमिकों के वेतन में वृद्धि न हो सकी। फलस्वरूप श्रमिकों में असन्तोष की भावना फैलने लगी और कर्मचारी संगठित होने के लिये श्रम-संघों के सदस्य बनने लगे। राष्ट्रीय आन्दोलन से भी श्रमिक-आन्दोलन को बड़ा बल मिला। जलियांवाला बाग जैसे नृशंस कांडों के कारण राजनीतिक नेताओं ने श्रमिकों को श्रम-संगठनों में बांधने की और उनका नेतृत्व कर, सामूहिक रूप से सरकार का सामना करने की चेष्टा की। सर्वश्री लाला लाजपतराय, जवाहरलाल नेहरू, सुभाष चन्द्र

बोस आदि ने श्रमिकों का नेतृत्व राजनीतिक कारणों से तथा श्रमिकों की स्थिति सुधारने के लिये किया।

दूसरे, बहुत से भारतीय सैनिक महायुद्ध के समय विदेश गये थे और उन्हें वहाँ के श्रमिकों की स्थिति देखने का अवसर मिला। उन सैनिकों ने विदेशों के श्रमिकों की उत्तम कार्य-दशाओं, अधिकारों, सुविधाओं के संबंध में स्वदेश वापस लौटने पर चर्चा की, जिससे यहाँ के श्रमिकों में नयी चेतना का संचार हुआ और वे उसी प्रकार की स्थिति प्राप्त करने के इच्छुक हुए। रूस में जारशाही के समाप्त होने से भी भारतीय श्रमिकों पर अनुकूल प्रभाव पड़ा। इस क्रान्ति ने एक प्रकार से श्रम-संघों को राजनीतिक उद्देश्य एवं दृष्टिकोण प्रदान किया।

आई० एल० ओ० (अंतर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन) की स्थापना का भी भारतीय श्रम-संगठन-आन्दोलन पर बहुत ही अच्छा प्रभाव पड़ा।

आई० एल० ओ० के स्थापना-काल से ही भारत उसका सदस्य था। आई० एल० ओ० में सरकारी प्रतिनिधियों के अतिरिक्त सेवायोजक तथा श्रमिक प्रतिनिधियों का चुनाव उनके केन्द्रीय संगठनों की संस्तुति के अनुसार होता था, अतः आई० एल० ओ० में प्रतिनिधि भेजने के लिये एक केन्द्रीय श्रम-संगठन की आवश्यकता पड़ी। फलस्वरूप १९२० ई० में देश में प्रथम केन्द्रीय श्रम-संगठन 'आल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस' का गठन किया गया, जिसे जन्म देने का श्रेय अप्रत्यक्ष रूप से आई० एल० ओ० को भी है। 'आल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस' का प्रथम अधिवेशन लाला लाजपतराय की अध्यक्षता में १९२० ई० में हुआ। इस केन्द्रीय संगठन से उस समय ६४ श्रम-संघ संबद्ध थे, जिनकी सदस्य-संख्या १,४०,८५४ थी।[८] प्रतिनिधि केन्द्रीय श्रम-संगठन होने के कारण 'आल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस' को आई० एल० ओ० के लिये श्रमिक प्रतिनिधि के नाम की संस्तुति करने का अधिकार मिल गया।

डा० पुष्रेकर के अनुसार १९२० ई० में देश में १२५ श्रम-संघ थे तथा उनकी सदस्य-संख्या २,५०,००० थी।[९] उस समय किसी मांग को रखने के लिये श्रम-संघ गठित कर लिये जाते थे और उद्देश्य की पूर्ति हो जाने पर वे संघ निष्क्रिय हो जाते थे तथा धीरे-धीरे उनका अस्तित्व ही समाप्त हो जाता था। इसके अपवाद भी कुछ श्रम-संघ थे, जिनमें अहमदाबाद का 'टैक्सटाइल लेबर एसोसियेशन' और डाक तथा रेलवे कर्मचारियों के संघ थे, जो आज भी अपने सदस्यों के लिये उपयोगी कार्य कर रहे हैं।

श्री शंकरलाल बैंकर तथा सुश्री अनुसूयाबेन के प्रयत्नों से अहमदाबाद के सूती मिल कर्मचारियों ने 'टैक्सटाइल लेबर एसोसियेशन', मजूर महाजन नाम से १९२० ई० में स्थापित किया। १९१८ ई० में हड़ताल संचालित करने के लिये वहाँ यूनियन की आवश्यकता समझी गयी। अहमदाबाद के मिलमालिकों ने १९१७ ई० प्लेग भत्ते का प्रारम्भ किया था, परन्तु १९१८ ई० में वे इसे समाप्त करना चाहते थे। कर्मचारी इस भत्ते के स्थान पर वस्तुओं की मंहगाई के कारण वेतन में ५० प्रतिशत वृद्धि की मांग कर रहे थे। महात्मा गांधी के प्रयत्नों से इस विवाद का हल निकाला गया। वास्तव में गांधीजी के संरक्षण के फलस्वरूप इस श्रम-संघ को फलने-फूलने का अवसर प्राप्त हुआ। गांधी जी का अहमदाबाद के मिलमालिकों, श्रमिकों तथा सामान्य जनता पर बड़ा प्रभाव था, अतः उनकी उपस्थिति एवं सम्मति से मिलमालिकों तथा कर्मचारियों में सदैव सामंजस्य बना रहा।

इस बीच वेतन-वृद्धि तथा अन्य प्रश्नों को लेकर कई स्थानों पर हड़तालें हुईं। १९१९ ई० में बम्बई के सूती मिल मजदूरों ने लाखों की संख्या में हड़ताल में भाग लिया और उन्हें अपनी मांगों को पूरा कराने में सफलता मिली। दूसरे वर्ष दस घंटे के काम के दिन की मांग को लेकर वहां पुनः हड़ताल हुई, जिसमें लगभग दो लाख व्यक्तियों ने भाग लिया और कारखाना अधिनियम में संशोधन के पूर्व ही सूती मिल कर्मचारियों के काम के घंटों में मांग के अनुसार कमी कर दी गयी। १९१९ ई० में कानपुर में हड़ताल हुई और जमालपुर के रेलवे कर्मचारियों ने भी हड़ताल की। १९२० ई० में बम्बई, मद्रास, अहमदाबाद, शोलापुर के सूती वस्त्र-उद्योग-कर्मचारियों तथा कलकत्ता के जूट मिल के कर्मचारियों ने भी हड़ताल की। बम्बई में रेलवे कर्मचारियों की हड़ताल लगभग ५ माह

तक चली। इस समय की बहुत सी हड़तालें सफल रहीं।

असहयोग-आन्दोलन के संबंध में भी देश में कई स्थानों पर हड़तालें हुईं। राष्ट्रीय कांग्रेस के बहिष्कार के निर्णय के अनुसार, प्रिंस आफ वेल्स के भारत आगमन पर, उत्तरी पश्चिमी रेलवे कर्मचारियों ने हड़ताल की। १९२१ ई० में आसाम के चाय बागान कर्मचारियों ने भी हड़ताल की और वे वहाँ से अपने घर–बिहार, उड़ीसा आदि प्रान्तों में लौटने लगे। मालिकों ने प्रयत्न किया कि वे काम करने के स्थान से अपने घर वापस न लौटें। पुलिस के सिपाहियों ने निरीह श्रमिकों पर लाठियाँ बरसायीं। चाय बागान के कर्मचारियों की सहानुभूति में आसाम बंगाल रेलवे कर्मचारियों तथा स्टीमर के कर्मचारियों ने भी हड़ताल की।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने १९१९ ई० में अमृतसर के ३५वें अधिवेशन में एक प्रस्ताव स्वीकार कर प्रान्तीय कांग्रेस समितियों से अनुरोध किया था कि वे श्रमिक वर्ग के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक उत्थान के लिये प्रयत्न करें। दूसरे वर्ष नागपुर में एक उप समिति बनायी गयी, जिसमें सर्वश्री लाला लाजपतराय, चितरंजन दास, अनुसूयाबेन, साराभाई आदि को रखा गया तथा उन्हें श्रमिकों की स्थिति में सुधार लाने का कार्य सौंपा गया। १९२२ ई० में राष्ट्रीय कांग्रेस के अधिवेशन में 'आल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस' को पूर्ण सहायता देने का निश्चय किया गया और यह प्रस्ताव पारित किया गया कि 'कांग्रेस के विचार में भारतीय श्रमिक को अपनी स्थिति सुधारने के लिये, अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिये तथा शोषण से मुक्ति पाने के लिये संगठित होना चाहिए। यह कांग्रेस 'आल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस' तथा किसान-सभाओं का भारतीय श्रमिकों को संगठित करने के लिये स्वागत करती है और निम्नोक्त व्यक्तियों की एक समिति बनाती है, जो औद्योगिक तथा खेतिहर श्रमिकों के संगठन के लिये एटक (आल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस) की कार्यकारिणी की सहायता करें'—सर्वश्री (१) सी० एफ० ऐंड्रूज, (२) जे० एम० सेन गुप्ता, (३) एस० एन० हलदर, (४) स्वामी दीनानाथ, (५) डा० डी० डी० साठे, (६) एम० सिंगरवेल चेटियर।'

कांग्रेस के इस प्रस्ताव का यह प्रभाव पड़ा कि कांग्रेस कार्यकर्त्ता स्वेच्छानुसार श्रम-संगठनों में कार्य करने लगे और उनके सहयोग से प्रारम्भ में सहायता मिली।

१९२१ ई० से १९२५ ई० के बीच देश में श्रम-संघों की सदस्यता के संबंध में अनेक प्रकार के अनुमान लगाये जाते हैं। डा० आर० के० दास ने १९२१ ई० में ७७ श्रम-संघ तथा दस लाख सदस्य माना है। 'आल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस' ने १९२४ ई० में श्रम-संघों की संख्या ६८ तथा सदस्यों की संख्या २,२३,३३७ मानी है। डा० लोकनाथन के अनुसार श्रम-संघों की संख्या १०० तथा सदस्यों की संख्या १,३०,००० थी।[७]

(क्रमशः)

संदर्भिका :

१. ऋग्वेद १०।१९१।२
२. वही १०।१९१।४
३. अथर्ववेद ३।३०।५
४. शुक्ल यजु० संहिता १०।४
५. ऋग्वेद ५।५३।११; १०।३४
६. ऐतरेय ब्राह्मण ३।३०।३
७. वाजस० संहिता २३।१९।१
८. कौटिल्य २।४
९. कात्यायन—'हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र', खंड २, भाग १, पृ० ६८–६९ से उद्धृत
१०. ऋग्वेद १।१६३।१०

११. आप० धर्म०
१२. महाभाष्य भा
१३. बृह० उपनिष
१४. 'इकनामिक ल
१५. 'ऐंशिएण्ट फा
१६. 'इकनामिक ल
१७. वही पृ० २७
१८. बृहस्पति—'
१९. वही पृ० २८
२०. गौतम धर्म०
२१. महाभारत उ
२२. बृह० सं० १
२३. वही १०।८
२४. वही १७।१९
२५. वही १७।२०
२६. वही १७।१८
२७. कौटिल्य ४।१
२८. वही ३।१४।
२९. बृहस्पति संहि
३०. महाभारत श
३१. मनु० ८।२१
३२. याज्ञवल्क्य
३३. बृह० १७।१
३४. कौटिल्य ३।१
३५. नारद १०।६
३६. वाल्मीकि०
३७. वही २।८३।
३८. वही २।८३।
३९. वही ६।१२८
४०. भारतीय इति
४१. उरग जातक,
४२. प्राचीन भारत
४३. जातक १।३
४४. से ४९. 'हि
५०. 'बुधिस्ट इण्डि
५१. 'दी कैम्ब्रिज
५२. 'कारपोरेट ल
५३. वही पृ० ५
५४. 'श्री हर्ष आप

११. आप० धर्म० १।१।३।२६
१२. महाभाष्य भाग २, पृ० ३७४
१३. बृह० उपनिषद् १।८।१२
१४. 'इकनामिक लाइफ एंड प्रोग्रेस इन ऐंशिएण्ट इण्डिया', पृ० ७९
१५. 'ऐंशिएण्ट फाउण्डेसन्स आफ इकनामिक्स इन इण्डिया', पृ० ४९
१६. 'इकनामिक लाइफ ऐंड प्रोग्रेस इन ऐंशिएण्ट इण्डिया', पृ० १३६
१७. वही पृ० २७६
१८. बृहस्पति—'कारपोरेट लाइफ इन ऐंशिएण्ट इण्डिया', पृ० १७ से उद्धृत
१९. वही पृ० २८
२०. गौतम धर्म० ११।२०–२१
२१. महाभारत उद्योग० ३३।४२
२२. बृह० सं० १७।९
२३. वही १०।८
२४. वही १७।१९
२५. वही १७।२०
२६. वही १७।१८
२७. कौटिल्य ४।१।७३।१-२
२८. वही ३।१४।२२
२९. बृहस्पति संहिता १०।७
३०. महाभारत शान्ति० ३६।१९
३१. मनु० ८।२१९-२२०
३२. याज्ञवल्क्य० १५।१८७-१९८
३३. बृह० १७।१४
३४. कौटिल्य ३।१४।२९।३१
३५. नारद १०।६।७
३६. वाल्मीकि० २।१४।४०।१
३७. वही २।८३।११
३८. वही २।८३।१२।५
३९. वही ६।१२८।६२
४०. भारतीय इतिहास की रूपरेखा, भाग १, पृ० ३२४-३२५
४१. उरग जातक, पृ० १५४
४२. प्राचीन भारत का राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास, पृ० १७६
४३. जातक १।३०८; ३।४०५
४४. से ४९. 'हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र,' खंड २, भाग १ से उद्धृत
५०. 'बुधिस्ट इण्डिया' पृ० ९० से ९६
५१. 'दी कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया', भाग १, पृ० २०६
५२. 'कारपोरेट लाइफ इन ऐंशिएण्ट इण्डिया', पृ० ४
५३. वही पृ० ५
५४. 'श्री हर्ष आफ कन्नौज', पृ० ५९–६०

(क्रमशः)

...य श्रमिक को अपनी
...धिकारों की प्राप्ति के
...के लिये संगठित होना
...या ट्रेड यूनियन कांग्रेस'
...य श्रमिकों को संगठित
...और निम्नोक्त व्यक्तियों
...द्योगिक तथा खेतिहर
...आल इण्डिया ट्रेड यूनि-
...सहायता करें[९]–सर्वश्री
...एम० सेन गुप्ता, (३)
...दीनानाथ, (५) डा०
...रवेल चेटियर ।'

...भाव पड़ा कि कांग्रेस
...जों में कार्य करने लगे
... सहायता मिली ।

...देश में श्रम-संघों की
...र के अनुमान लगाये
...ी १९२१ ई० में ७७
...ा है । 'आल इण्डिया
...ी श्रम-संघों की संख्या
...३३,३३७ मानी है ।
...घों की संख्या १००
...० थी ।[७]

५५. 'दी इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली', खंड ६, पृ० १२७
५६. 'हिस्ट्री एंड कल्चर आफ इण्डियन पीपुल', भाग ४, पृ० ४०५
५७. 'ए पीप इनटू अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया', पृ० ४५
५८. वही, पृ० ४५
५९. 'विक्रमादित्य आफ उज्जैन', पृ० २४४
६०. रघुवंश १६।३८
६१. अभिज्ञान शाकुन्तलम्, पृ० २१६ (?)
६२. विक्र० ४१३
६३. अभिज्ञान शाकुन्तलम्, पृ० २१६ (?)
६४. 'लाइफ इन गुप्ता एज', पृ० ३६६
६५. मुद्राराक्षस पृ० ६८
६६. 'राष्ट्रकूटाज ऐंड देयर टाइम्स', पृ० ३६८
६७. वही पृ० ३६६
६८. 'दी कर्मशियल पालिसी आफ दी मुगल्स', पृ० १८६
६९. 'इण्डिया ऐट दी डैथ आफ अकबर', पृ० २६६
७०. 'दी कर्मशियल पालिसी आफ दी मुगल्स', पृ० ७०
७१. वही, पृ० ७०
७२. 'ट्रेड यूनियनिज्म इन इण्डिया', पृ० ५६
७३. वही, पृ० ६०
७४. वही, पृ० ५८
७५. 'इण्डस्ट्रियल लेबर इन इण्डिया', पृ० ७०
७६. 'लेबर मूवमेण्ट इन इण्डिया', पृ० ७, २०
७७. 'रिपोर्ट–रायल कमीशन आन लेबर', पृ० ३३३
७८. 'लेबर मूवमेण्ट इन इण्डिया', पृ० ६५
७९. 'ट्रेड यूनियन मूवमेण्ट इन इण्डिया', पृ० १४
८०. 'दी डेवलपमेण्ट आफ कैपीटेलिस्ट एन्टरप्राइज', पृ० ४२६
८१. 'दी इण्डियन वर्किंग क्लास', पृ० २६०
८२. 'इण्डस्ट्रियल वेल्फेयर इन इण्डिया', पृ० १६०
८३. 'ट्रेड यूनियनिज्म इन इण्डिया', पृ० ७८
८४. वही, पृ० ७ १
८५. वही, पृ० ७ ८
८६. 'कांग्रेस एण्ड लेबर मूवमेण्ट इन इण्डिया', पृ० १७-१६
८७. 'ट्रेड यूनियन मूवमेण्ट इन इण्डिया', पृ०-२०-२१

डा० विश्वनाथप्रसाद वर्मा

वैदिक राजनीतिशास्त्र का दार्शनिक विवेचन

भारतीय सभ्यता, संस्कृति और धर्म के अनुशीलन में वेदों को अत्यंत महत्वपूर्ण साहित्यिक स्रोत का स्थान प्राप्त है। "वेद" शब्द से स्वामी दयानंद केवल चार संहिताओं अर्थात् ऋग्वेद, अथर्ववेद, सामवेद और यजुर्वेद को ग्रहण करते थे, किंतु शंकराचार्य "वेद" शब्द से उपनिषदों को भी ग्रहण करते हैं। अन्य धार्मिक पंडित भी उपनिषदों, आरण्यकों और ब्राह्मणग्रंथों को वेद के अंतर्गत मानते हैं। शाब्दिक स्पष्टता की दृष्टि से "वेद" से केवल संहिताओं का ग्रहण करना उचित होगा।

यहां पर हम उन विराट् आदर्शों का विवेचन करेंगे जिनसे वेदकालीन भारत में शासन-प्रक्रिया अनुप्राणित थी, अतः पद्धति की दृष्टि से यह विवेचन ऐतिहासिक न होकर दार्शनिक और विश्लेषणात्मक है। किसी भी महान् ग्रंथ के दो अंश होते हैं। एक है ऐतिहासिक वस्तुस्थिति का चित्रण और दूसरा है उस ऐतिहासिक वस्तुस्थिति का आश्रय लेकर एक चिरंतन संदेश का अभिज्ञापन। महाभारत युद्ध कब हुआ और कितनी सेनाएँ उसमें सम्मिलित थीं, यह इतिहास का प्रश्न है। किंतु, गीता के निष्काम कर्मयोग का वर्तमान जगत् में क्या महत्व है, इसका विवेचन करना दार्शनिक का कर्तव्य है। वैदिक भारत की शासन-समितियों और विशः, जन, राष्ट्र आदि की निर्माण-प्रक्रियाएँ आज फिर से सप्राण नहीं की जा सकतीं, किंतु निर्मल वैदिक आदर्श बहुत अंश तक आज के प्रजातंत्रीय भारत को चेतना प्रदान कर सकते हैं।

वैदिक राजनीतिक आदर्शवाद की सबसे बड़ी विशेषता है व्रतों और नियमों के अनुसार राजकर्म की व्यवस्थापना। राजकीय शक्ति अनियंत्रित दंडप्रवाह में आनंद न लेने लगे, प्रत्युत् श्रेयों के अनुकूल बने, यह उस समय का विचार था और आज भी समीचीन है। अथर्ववेद में कहा है:—

प्रजापतिर्विराजति विराडिन्द्रो भवत् वशी।
(अथर्ववेद ११।१६)

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति।
(अथर्ववेद ११।१७)

इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत् ।
(अथर्ववेद ११।१९)

इन मंत्रों में स्पष्ट रूप से बताया गया है कि राष्ट्र की रक्षा के लिये तपस्या, ब्रह्मचर्य और साधना की आवश्यकता है। यदि साधनाहीन वैयक्तिक जीवन भ्रमपूर्ण और असफल हो सकता है, तो समस्त राष्ट्र को उन्नति-पथ का दर्शन कराने के लिये नियमों के अनुशीलन और अभ्यास की प्रचंड आवश्यकता अवश्य ही है।[1]

इस आदर्शवाद के अनुकूल ही वैदिक स्वराज्य की कल्पना की गयी थी। स्वराज्य का अर्थ निरंकुशता, स्वच्छंदता और यथाकामाचार नहीं है। स्वराज्य का तात्त्विक अर्थ है—अपने आत्मा का अपनी प्रवृत्तियों और एषणाओं पर साम्राज्य। जब मानव विराट् श्रेयों से अनुप्राणित होकर अपने आत्मा का महत्व अपनी इंद्रियों और एषणाओं पर व्यक्त करता है, उस समय स्वराज्य का अभ्युदय होता है। जब इस प्रकार के चेतन नीतिमान् आध्यात्मिक मानव राजकीय कार्य का सम्यक् संचालन करते हैं, तब सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र में स्वराज्य का दर्शन होता है। ऋग्वेद में कहा है:—

स्वादोरित्था विषूवतो मध्वः पिबन्ति गौर्यः ।
या इन्द्रेण सयावरीर्वृष्णा मदन्ति शोभसे वस्वीरनु
स्वराज्यम् ।
(ऋग्वेद १।८४।१०)

अर्थात् स्वराज्य की अवस्था तभी व्यक्त हो सकती है, जब शांति और संतोष तथा सार्वत्रिक श्रम का पालन हो। अन्यत्र कहा है:—

इत्था हि सोम इन्मदे ब्रह्मा चकार वर्धनम् ।
शविष्ठ वज्रिन्नोजसा पृथिव्या निःशशा अहिम-
र्चन्ननु स्वराज्यम् ।
ऋग्वेद १।८०।१६४)

इस मंत्र में बताया है कि स्वराज्य तभी प्राप्त हो सकता है, जब ओज और शक्ति के सहारे आसुरी और राक्षसी प्रवृत्तियों का दमन किया जाय। यह संभव नहीं है कि वर्गविशेष या जातिविशेष अपनी स्वार्थमूलक एषणाओं का भोग करे और देश में स्वराज्य टिका रहे। आज सर्वत्र स्वतंत्रता की धूम मची है। यूरोपीय पुनरुत्थान (Renaisance) के बाद यह संदेह मुख्यतः सुनायी पड़ा। अमेरिका और फ्रांस की राज्यक्रांति ने इस संदेश को प्रबलता से प्रचारित किया। किंतु, आज विश्व में सर्वत्र नैतिक खोखलापन और हाहाकार है। स्वतंत्रता भोगवाद, स्वार्थवाद और शोषणवाद में बदल गयी है। वेद के अनुसार स्वराज्य के लिये परिग्रह और हिंसारूपी "अहि" (सर्प) के वध की आवश्यकता है। मानव-सभ्यता और संस्कृति के इस भयंकर संक्रमण-काल में स्वराज्य के मंत्र का क्रियान्वयन अभिप्रेत है। आज विश्व स्वच्छंदता की खोज में उन्मत्त होकर उस निर्मल स्वराज्य के मंत्र को भूल चुका है, जिसमें आत्माभिमुखी परमार्थसाधक नियमों के अनुसार जीवन-यापन करना ही परम कर्तव्य माना गया था। नियमों का अभाव अराजकता और मात्स्यन्याय को उत्पन्न करता है, परन्तु केवल भय के कारण नियमों का अनुवर्तन करना दासों का काम है। सच्ची नैतिकता से युक्त कर्मयोग तभी व्यक्त होता है, जब व्यापक आत्मकल्याण तथा जनकल्याण को सामने रखकर सत्कर्म का पालन होता है। इस प्रकार के कर्मयोग के पालन के लिये मनुष्य समस्त पृथ्वी के क्षणिक भोगों को छोड़ देता है। आधुनिक युग में इसी स्वराज्य का संदेश दयानंद, तिलक, गांधी अरविंद ने भारत को दिया है। यह स्वराज्य यूरोपीय सभ्यता द्वारा उच्चरित स्वच्छंदता और स्वतंत्रता से अधिक विशाल, उन्नयनकारी और तेजस्वी है। इस स्वराज्य का रूपकपूर्वक वर्णन यजुर्वेद में किया गया है :—

बाहू मे बलमिन्द्रियं हस्तौ मे कर्म वीर्यम्
आत्मा क्षत्रमुरो मम ।
पृष्ठी मे राष्ट्रमुदरंसी ग्रीवाश्च श्रोणी ।
उरू अरत्नी जानुनी विशो मेऽङ्गानि सर्वतः ।
(यजुर्वेद २०, ७—८)

अर्थात् "जो पूर्ण बल है, वही मेरी भुजा है; जो उत्तम कर्म और पराक्रम से युक्त इंद्रिय और मन हैं, वे मेरे हाथों के समान हैं; जो राजधर्म, शौर्य, धैर्य, और हृदय का ज्ञान है, वे सब मेरे आत्मा के समान हैं; जो उत्तम राज्य है, वह मेरी पीठ के समतुल्य है; जो राज्य-सेना और कोश

है, वह मेरे हस्त के मू
को सुख से भूषित अ
और श्रोणी अर्थात् न
है; जो प्रजा को व्य
करना है, वह अरत्नी
प्रजा और राजसभा
समान है। जो इस प्र
वे सब मेरे अंगों के
से प्रभावित होकर म
समस्त जनता अर्थात्
है।[1] यही सच्चे स्व
मनुष्य न्याय और अ
असत् का भेद भुलाक
हो जाता है, तब मान
कर रही होती है।
निगूढ़ राक्षसिकता की
विज्ञान, धर्म, दर्शन
अतः, वैदिक स्वराज
विश्व-राजनीति के सं
इस स्वराज्य के आ
अर्थात् अपना गुण
आवश्यक है। जब
है, तब वह उसमें की
बार-बार एक कार्य
है। सभ्यता के वि
नैपुण्य परम आवश्य
अव्यवस्था उत्पन्न न
को व्यक्त करते हुए

श्रेयान् स्वधर्मो
स्वभावनियतं

यदि स्वराज्य का आ
संदेश है, तो उनका
जनमत को राज्य क
सभा, समिति और
के अनुसार, नरपति
की इच्छाओं, आक

है, वह मेरे हस्त के मूल और उदर के समान तथा जो प्रजा को सुख से भूषित और पुरुषार्थी करना है, वह मेरे कंठ और श्रोणी अर्थात् नाभि के अधोभागस्थान के समतुल्य है; जो प्रजा को व्यापार और गणित विद्या में निपुण करना है, वह अरल्ली और उरु के समान है तथा जो प्रजा और राजसभा का मेल रखना है, वह मेरी जानु के समान है। जो इस प्रकार प्रजापालन के उत्तम कर्म हैं, वे सब मेरे अंगों के समान हैं।"[३] इस व्यापक आदर्श से प्रभावित होकर मनुष्य अपने क्षुद्र स्वार्थों को भूलकर समस्त जनता अर्थात् विशः से एकात्मता अनुभव करता है।[४] यही सच्चे स्वराज्य का मूल है। जब प्रत्येक मनुष्य न्याय और अन्याय, धर्म और अधर्म, सत् और असत् का भेद भुलाकर झूठे 'निज' की उपासना में लिप्त हो जाता है, तब मानो सारी जनता सारी जनता से युद्ध कर रही होती है। यह घोर अशांति, अंधकार और निगूढ़ राक्षसिकता की अवस्था है। ऐसे अवसर पर कला, विज्ञान, धर्म, दर्शन आदि का तिरोभाव हो जाता है। अतः, वैदिक स्वराज्य के निर्मल आदर्श को आधुनिक विश्व-राजनीति के संचालन में ध्यान में रखना चाहिए। इस स्वराज्य के आदर्श की परिणति के लिये स्वधर्म, अर्थात् अपना गुणकर्म-स्वभावानुमोदित कर्म करना आवश्यक है। जब मनुष्य अपने कर्म में अनुरक्त होता है, तब वह उसमें कौशल और प्रवीणता प्राप्त करता है। बार-बार एक कार्य करने से दक्षता का आगमन होता है। सभ्यता के विकास के लिये दक्षता, अर्थात् कार्य-नैपुण्य परम आवश्यक है। दूसरी ओर स्वकर्मपालन से अव्यवस्था उत्पन्न नहीं होने पाती। अतः, इस आदर्श को व्यक्त करते हुए गीता में कहा गया है:—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥
(भगवद्गीता १८।४७)

यदि स्वराज्य का आदर्श वेदों का प्रथम महान् राजनीतिक संदेश है, तो उनका दूसरा महान् राजनीतिक आदर्श है जनमत को राज्य का आधार बनाना। वैदिक काल में सभा, समिति और विदथ का विकास हुआ था।[५] वेदों के अनुसार, नरपति को अपने मनोनुकूल कार्य न कर विशः की इच्छाओं, आकांक्षाओं, परंपराओं और आदर्शों के अनुसार कार्य करना पड़ता था। इस प्रकार व्यावहारिक संप्रभुता[५] का बीज उस समय सामान्य जनता के संकल्प में था, न कि शस्त्रबल में। वेदों के अनुसार क्षात्रबल का ब्राह्मबल से समन्वय होना चाहिए। यजुर्वेद में कहा है :—

यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यंचौ चरतः सह।
तं लोकं पुण्यं यज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना॥
(यजुर्वेद २०।२५)

ब्राह्मबल और क्षात्रबल का समन्वित क्रियात्मक उदाहरण राम, भीष्म, कृष्ण आदि के चरित्र में प्राप्त होता है। कौटिल्य ने भी अपने अर्थशास्त्र में इसी विचार का समर्थन किया। केवल ब्राह्मबल सांसारिक उन्नति से उदासीन हो जाता है और इस कारण राष्ट्रीय जीवन दुर्बल हो जाता है। केवल क्षात्रबल शक्तिवाद में परिणत हो जाता है। सीजर, सिकंदर, नेपोलियन और हिटलर का लज्जाजनक पराभव इसका उदाहरण है। अतः, वेदों ने ब्राह्मशक्ति और क्षात्रशक्ति के समन्वय का उपदेश दिया है और सम्यक् राजनीतिक व्यवस्था के लिये दोनों की आवश्यकता है भी। मुख्य विषय यह है कि किसी एक वर्ग या एक अधिनायक के हाथों में शक्ति का केन्द्रीकरण न हो। वैदिक संस्थात्मक जीवन का यह आदर्श था कि शक्ति का क्षेत्रीय और कर्मीय विकेन्द्रीकरण हो।[६] अथर्ववेद में कहा है:— तं सभा च समितिश्च सेना च।
(अथर्ववेद १५।१।२)

... ...

सभ्य सभां मे पाहि ये च सभ्यः सभासदः
त्वयेदगाः पुरुहूत विश्वमायुर्व्यश्नवम्।
(अथर्ववेद १९।५५।६)

अर्थात् "राजसभा की रक्षा होनी चाहिए। सभा के सभासद संस्कृत होकर सत्य और धर्म की रक्षा करें। राजकीय जीवन के उपयुक्त कर्मयोग का पालन करते हुए आयु-यापन ही निर्मल आदर्श है।" प्रायः वैदिक आदर्श-वाद का संरक्षण ही शतपथ, ऐतेरय, पंचविंश आदि ब्राह्मणग्रंथों में हुआ है। राजकार्य में "विशः" का महत्व बताते हुए शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है :—

श्रीर्वैराष्ट्रम । श्रीर्वैराष्ट्रस्य भारः । श्रीर्वैराष्ट्रस्य मध्यम् ।
क्षेमो वै राष्ट्रस्य शीतम् । विड्वैगभो राष्ट्रं पसो राष्ट्रमेव
विश्याहन्ति तस्माद्राष्ट्री विशं धातुकः । विशमेव राष्ट्रादयां
करोति तस्माद्राष्ट्री विशमत्ति न पुष्टं पशु मन्यत इति ।
(शतपथ ब्राह्मण १३।२।६।२–६।८)

श्री का अर्थ कुछ भाष्यकारों ने विद्यादि उत्तम गुणों से युक्त नीति किया है । यदि शक्ति का केंद्रीकरण होता है, तो प्रजाओं का शोषण और उत्पीड़न होता है । जैसे मांसाहारी मनुष्य पशु को देखकर उसको मारने की इच्छा करता है, उसी प्रकार अधिनायक प्रजाओं के उत्कर्ष का हनन करता है और स्वेच्छाचारी होता है । अतः, समष्टि के कल्याण के लिये आवश्यक है कि जनता की सहमति ही राज्य का आधार बने । इसीलिये वेद में कहा गया है:—"विशस्त्वा सर्वा वांछन्तु ।" मेरे विचार में "स्वराज्यवाद" और "विशःवाद"—वैदिक शासन-कार्य के नियामक ये दो ही आदर्श आज भी उपयुक्त हैं । जब इनका सम्यक् पालन होता है, तब ऐतरेय ब्राह्मण के शब्दों में कह सकते हैं—"तद्राष्ट्र समूढ" ।[७]

निदेशक, लोक-प्रशासन संस्थान,
पटना विश्वविद्यालय (बिहार)

संदर्भ :

१. वेदोक्त तपस्या की महत्ता का समर्थन करते हुए तैत्तिरीय आरण्यक में ऋत, सत्य, स्वाध्यायप्रवचन, तप, दम, शम आदि का वैशिष्ट्य महत्वपूर्ण शब्दों में बताया गया है । "सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः । तपइति तपोनित्यः पौरुशिष्टिः । स्वाध्यायप्रवचन एवेति नाको मौद्गल्यः । तद्धि तपस्तद्धि तपः ।" पतंजलि के योगदर्शन में यम और नियम की प्रकृष्ट आवश्यकता बतायी गयी है । इसी वैदिक परम्परा का आधुनिक युग में अनुमोदन करते हुए महात्मा गांधी और महर्षि अरविंद ने राजनीतिक जीवन में नैतिक नियमों की आवश्यकता बतायी है ।
२. स्वामी दयानंद, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृष्ठ ३२४ ।
३. ते ह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् । मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे । मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ।। (यजुर्वेद, ३६।१८)
४. त्रीणि राजाना विदथे पुरूणि परिविश्वानि भूषथः सदांसि ।
अपश्यमत्र मनसा जगन्वान व्रते गन्धर्वा अपि वायुकेशान् ।
(ऋग्वेद अ० ३, ८०२, व० २४, म० १)
५. व्यावहारिक संप्रभुता—Actual and dynamic exercise sovereignty ।
६. क्षेत्रीय विकेंद्रीकरण—Territorial decentralization ।
कर्मीय विकेंद्रीकरण—Functional decentralization ।
७. तानहमनु राज्याय साम्राज्याय स्वराज्याय वैराज्याय पारमेष्ठ्याय
राज्याय महाराज्याधिपत्याय स्ववश्यायातिष्ठायां रोहामीति ।
ब्रह्मण एवं तत्क्षत्रं वशमेति तद्यत्र वै ब्रह्मणः क्षत्रं वशमेति
तद्राष्ट्रं समूढं तद्वौरवदाहास्मिन् वीरो जायते ।
(ऐतरेय ब्राह्मण ८।२।५६)

(स्व०) दीनदयाल उपाध्याय

राजनीतिक दलों के लिये आचार-संहिता

व्यक्ति का सम्मान और उसकी स्वतंत्रता जनतन्त्र का मूलभूत सिद्धान्त है। इन्हें नष्ट करने वाला किसी भी दल का आदर्श अजनतांत्रिक होगा।[1]

जबकि एक ओर समाज के लिये व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य की प्रत्याभूति (गारण्टी) और रक्षा आवश्यक है, व्यक्ति के लिये सर्वसामान्य की इच्छा का स्वेच्छया समादर करना भी वांछनीय है। यह सहिष्णु भावना जितनी अधिक होगी, राज्य के अदम्य अधिकार उतने ही कम हो जायेंगे।

जनता में विधान के प्रति समादर की भावना उत्पन्न करने के लिये यह आवश्यक है कि विधान का संरक्षक बनने की आकांक्षा रखने वाले दल इस दिशा में स्वयं उदाहरण प्रस्तुत करें।

किसी दल में, जिसके कार्यों का किसी सरकारी विधान द्वारा नियमन नहीं होता, प्रत्युत् वे दल की इकाइयों द्वारा स्वेच्छया स्वीकृत निर्णयों के अनुसार चलते हैं, इसके उदाहरण प्रस्तुत किये जाने चाहिए कि व्यक्तिगत स्वातंत्र्य और सामाजिक उत्तरदायित्व का सर्वोत्तम सन्तुलन किस प्रकार स्थापित किया जा सकता है। अतः दलों के लिये यह आवश्यक है कि वे अपने सदस्यों के लिये एक आचरण-संहिता निर्धारित करें और उसका कड़ाई से पालन करें। स्वशासन की भावना और क्षमता जनतन्त्र का सार है।[2]

भिन्न-भिन्न राजनीतिक दलों को अपने लिये एक दर्शन (सिद्धान्त या आदर्श) का क्रमिक विकास करने का प्रयत्न करना चाहिए। उन्हें कुछ स्वार्थों की पूर्ति के लिये एकत्र होने वाले लोगों का समुच्चय मात्र नहीं बनना चाहिए। अपने पास (दल में) आने वाले लोगों के दृष्टिकोणों की कोई चिन्ता न करके केवल अनुयायियों की संख्या बढ़ाना अनुचित है। राजनीतिक दल को व्यापारिक प्रतिष्ठान (जौइन्ट स्टाक कम्पनी) से भिन्न होना चाहिए। राजनीतिक सत्ता पर निश्चित सामाजिक और राष्ट्रीय उद्देश्यों की पूर्ति के लिये ध्यान देना उचित है न कि सत्ता की होड़ के लिये। राजनीति साधन है, साध्य नहीं।[3]

जनतन्त्र में सत्ता के प्रति उच्च स्तर की निरासक्ति आवश्यक है। भगवान राम की तरह, जनतन्त्र में राजनीतिज्ञ को आवाहन मिलने पर सत्ता स्वीकार करने और क्षति की चिन्ता किये बिना उसका परित्याग कर देने के लिये भी सदा तैयार रहना चाहिए। खिलाड़ी की तरह उसे विजय के लिये संघर्ष करना चाहिए, किन्तु पराजय के लिये भी तैयार रहना चाहिए।

हर व्यक्ति तब तक जनतन्त्रवादी होने का स्वांग कर सकता है, जब तक उसे जन-समर्थन प्राप्त है, किन्तु जनतन्त्रवादी बने रहने के लिये उस समय गहरी आस्था की आवश्यकता होती है, जब आप हार जायें।[४]

दो आम चुनावों के बीच केवल छोटे प्रश्नों के लिये सरकार पर दबाव डालना चाहिए और बड़े प्रश्नों को जनता के निर्णय के लिये छोड़ देना चाहिए। चुनाव में सरकार को बदल देने के अतिरिक्त किसी अन्य उपाय से सरकारी नीति में बड़े परिवर्तन के लिये दबाव डालना अप्रजातान्त्रिक होगा।[५]

सरकार को प्रस्तावों और आवेदनों के प्रति अधिक उत्तरदायी बनना चाहिए।[६] विरोधियों एवं आन्दोलनकारियों की बातों से सहमत होते हुए भी, शासक उन्हें कार्यान्वित करने के लिये यदि केवल इसलिये तैयार न हों कि इस प्रकार उनकी प्रतिष्ठा की हानि होगी तथा विरोधियों का मूल्य बढ़ेगा, तो यह अनुचित है। रचनात्मक कार्य का सुदृढ़ आधार होने पर किसी प्रकार की झूठी प्रतिष्ठा का प्रश्न खड़ा नहीं होता।[७]

देश का शासन सरकार के माध्यम से संसद द्वारा किया जाता है, अतः विरोधी दल संसद द्वारा उत्तरदायित्वों के निर्वाह में योगदान करता है, अन्यथा राष्ट्रद्रोह और विरोधी दल में कोई अन्तर नहीं रह जायेगा।[८]

संसदीय पद्धति का अर्थ है—विचार-विमर्श के आधार पर चलने वाली सरकार, और उस पद्धति में अधिकारारूढ़ व्यक्तियों को विरोधियों के दृष्टिकोण पर विचार करने तथा उसे मान्य करने के लिये सदैव तैयार रहना होता है।[९]

सत्तारूढ़ दल का कर्तव्य है कि वह विरोधी दल के विचारों का आदर कर समन्वय की भावना से शासन करे। सामंजस्य और समन्वय की इस भावना के लिये सहिष्णुता की आवश्यकता है। हम कह सकते हैं कि जनतंत्र की भागीरथी का अटूट स्रोत सहिष्णुता ही है। भारतीय संस्कृति का आधार ही सहिष्णुता है।[१०] जनतन्त्र में सरकार विरोधी दल को सहन ही नहीं करती, अपितु उसका विश्वास भी करती है।[११]

सत्तारूढ़ लोगों के मन में जनतंत्र में विश्वास रखने वाले किसी दल पर प्रतिबन्ध लगाने के विचारों का उदय होना भी जनतंत्र में एक पाप है।[१२]

चाहे जैसा आदर्श किसी दल को जनतन्त्र का युग लाने में समर्थ नहीं बनायेगा। वह आदर्श स्वयं जनतन्त्र के आदर्शों और भावनाओं के विपरीत नहीं होना चाहिए।[१३]

सैद्धान्तिक आधार पर किसी दल से सम्बन्ध-विच्छेद को उचित माना जा सकता है, किन्तु अन्य आधारों पर दलों को दल-बदल को प्रोत्साहन नहीं देना चाहिए। ऐसी स्थिति में, जब कोई दल बहुमत में न आये, या उसे अत्यल्प बहुमत प्राप्त हो, तब अन्य दलों से समर्थन पाने के लिये राजनीतिज्ञों द्वारा अनुचित साधन अपनाये जाने की संभावना होती है। यह आवश्यक है कि हम ब्रिटेन की दो दलीय संसदीय पद्धति से कुछ अलग परंपराएँ विकसित करें और अपनायें। केवल उससे ही देश में स्थिर सरकार रहेगी और भ्रष्ट राजनीतिज्ञों का अखाड़ा बनने से दलों की रक्षा हो सकेगी।[१४]

किसी दल में संगठन-पक्ष और विधायक-पक्ष का संतुलन व्यावहारिक आधार पर होना चाहिए। सिद्धान्ततः जनतन्त्र में जनता की इच्छा सर्वोपरि है और उसके प्रतिनिधियों को उनकी अपनी अंतश्चेतना, जनमत और संविधान के अतिरिक्त अन्य किसी का नियंत्रण नहीं मान्य करना चाहिए। किन्तु व्यवहार में, दलीय पद्धति के जनतंत्र में दल के समर्थन के आधार पर ही प्रत्याशी निर्वाचित होता है। बहुधा जनता किसी दल के व्यक्ति की अपेक्षा दल का समर्थन करती है। व्यक्ति भी अपनी स्वयं की इच्छा से दल का अनुशासन स्वीकार कर लेता

है। इसलिये वह केवल उस समय जनता के नाम की दुहाई नहीं दे सकता, जब दल के निर्देश का पालन करना उसके लिये असुविधाजनक बन जाय। विशेषतः एक ऐसी पद्धति में, जिसमें प्रतिनिधि को वापस बुला लेने की व्यवस्था नहीं है, चुनाव के बाद दल ही विधायक के आचरण को नियमित रख सकता है। अगला चुनाव होने तक जनता तो निरुपाय रह जाती है।[१५]

दलीय अनुशासन दल की सुस्थिति ही नहीं, अपितु दलगत आधार पर शासन-व्यवस्था के लिये भी आवश्यक है। किन्तु, जब अनुशासन चीनी स्त्रियों के जूते के समान बुरी तरह से जकड़ ले तो उसमें व्यक्ति तथा दल या देश—दोनों का विकास रुक जाता है। जनतन्त्र कम से कम वहां पनप नहीं सकता। प्रवर समिति की बैठकों तक में दल के सचेतक द्वारा अपने अधिकार का प्रयोग करना उचित नहीं है। व्यक्ति की स्वतन्त्रता नितान्त आवश्यक है।[१६]

सत्तारूढ़ दल द्वारा दल के नेता को ही विधायिका का नेता बना देने से देश में दल की तानाशाही चलने लगेगी।[१७]

राष्ट्र एक है, राष्ट्रजन एक हैं, अतः राजनीति में (अर्थात्-राजनीतिक दलों के द्वारा) किसी विशेष सम्प्रदाय, किसी विशेष भाषाभाषी समूह, किसी विशेष प्रान्त या क्षेत्र अथवा किसी आर्थिक या सामाजिक वर्ग का विचार इस प्रकार नहीं किया जाना चाहिए कि वह राष्ट्र का सामान्य अवयव न प्रतीत होकर एक पृथक इकाई जान पड़े। प्रत्येक समस्या को राष्ट्रीय दृष्टिकोण से देखा जाना चाहिए, न कि वर्ग, सम्प्रदाय, क्षेत्र या भाषा विशेष के दृष्टिकोण से; क्योंकि जैसे हमारा शरीर अंगों का समूह मात्र नहीं है, वैसे ही राष्ट्र भी इन तथाकथित वर्गों या इकाइयों का केवल समूह नहीं, वरन् एक जीवन्त एकात्मक इकाई है।[१८]

संकलन-स्रोत

१. पोलिटिकल डायरी, पृ० १४४
२. पो० डा०, जनतन्त्र और राजनीतिक पार्टियाँ, पृष्ठ १४५
३. पोलिटिकल डायरी : जनतंत्र और राजनीतिक पार्टियाँ पृ०—१४३, १४४
४. पो० डा० : कांग्रेस और जनतंत्र, पृ० १४०, १४१
५. पो० डा०; पार्टियों के लिये आचरण-संहिता, पृ० १३७
६. पो० डा० : पार्टियों के लिये आचरण-संहिता, पृ० १३७
७. राष्ट्रचिन्तन : लोकतंत्र का भारतीयकरण, पृ० ८४
८. पो० डा० : कांग्रेस और जनतंत्र, पृ० १३६
९. पो० डा० : कांग्रेस और जनतंत्र, पृ० १३६
१०. राष्ट्रचिन्तन : लोकतंत्र का भारतीयकरण पृ० ८१, ८२
११. पो० डा० : कांग्रेस और जनतंत्र, पृ० १४०
१२. पो० डा० : कांग्रेस और जनतंत्र, पृ० १४१
१३. पो० डा० : जनतन्त्र और राजनीतिक पार्टियाँ, पृ० १४४
१४. पो० डा० : जनतन्त्र और राजनीतिक पार्टियाँ, पृ० १४५
१५. पो० डा० : विधायिका पक्ष बनाम संगठन-पक्ष, पृ० १४६
१६. रा० चि० : लोकतन्त्र का भारतीयकरण, पृ० ८३
१७. पो० डा० : विधायिका-पक्ष बनाम संगठन-पक्ष, पृ० १४६
१८. राष्ट्रचिन्तन : भारतीय राजनीति की एक मौलिक भूल

विश्वास और आत्मविश्वास

एक विश्वास है कि काशी में देहत्याग करने से मुक्ति होती है। इसलिये बहुत से लोग वृद्धावस्था में काशीवास के लिये चले जाते हैं। इसके विपरीत एक स्थान है—मगहर, जिसके बारे में बात प्रचलित है कि वहाँ मरने से नरक में जाना पड़ता है।

संत कबीरदास जन्म से ही काशी के वासी थे। उनका प्रायः सम्पूर्ण जीवन काशी में बीता, परन्तु अन्तिम समय निकट आने पर उन्होंने मगहर चले जाने की इच्छा प्रकट की और अपने पुत्र से वहाँ पहुंचा देने के लिये कहा। इस पर स्वभावतः लोगों को आश्चर्य हुआ और उन्होंने कबीरदास को काशी के महात्म्य तथा मगहर की अशुभता का स्मरण कराया। परन्तु अद्भुत था आत्मविश्वास कबीर का ! उन्होंने कहा—क्या काशी और क्या मगहर ! मेरे तो हृदय में राम बसते हैं। फिर भी मैं मोक्ष पाने के लिये काशी में शरीर-त्याग करूं तो फिर राम की भक्ति का प्रयोजन ही क्या है ?

का काशी का मगहर ऊसर
हृदय राम बस मोरा।
जो काशी तन तजै कबीरा
रामहि कौन निहोरा ॥

□

डा० विजेन्द्र सिंह गुप्त

व्यष्टि व समष्टि और एकात्म मानववाद

इस गुत्थी को सुलझाने का प्रयत्न विचारक प्रारम्भ से ही करते आये हैं कि व्यक्ति व समाज के आदर्श संबंध क्या हों। आदर्श संबंधों की खोज में कभी विचारकों ने व्यष्टि को और कभी समष्टि को महत्व दिया है। व्यक्तिवादियों ने व्यक्ति को साध्य माना है और समाज को साधन। समाजवादियों ने समाज को साध्य मानकर व्यक्ति को उसका साधन माना है। मतभेद इसी बात पर रहा है कि व्यक्ति और समाज में से कौन साध्य हो और कौन साधन हो। साध्य और साधन की स्थिति एक को श्रेष्ठ और दूसरे को निम्न बना देती है। जो साध्य होगा, वह अधिक महत्वपूर्ण होने का दावा करेगा और जो साधन होगा, वह हीनता के भाव से समाविष्ट हो जायेगा। यह स्थिति संघर्ष की स्थिति है। संघर्ष की स्थिति को यदि समाप्त करना है या उस स्थिति का निर्माण ही नहीं होने देना है तो साध्य व साधन, महत्वपूर्ण व महत्वहीन या श्रेष्ठ व निम्न के संबंधों को ही भुलाना होगा। पं० दीनदयाल उपाध्याय ने उचित ही कहा है कि "..... व्यक्ति और समाज में विरोध मानना ही भूल है। विकृतियों की, अव्यवस्था की, बात छोड़ दें। उसे दूर करने के उपाय करने भी आवश्यक होते हैं, किन्तु मूल सत्य यही है कि व्यक्ति और समाज अभिन्न और अविभाज्य हैं। सुसंस्कृत अवस्था वही है जहां व्यक्ति अपनी चिंता करते हुए भी समाज की चिंता करेगा। दोनों में समन्वय की स्थिति है, पूरकता है। समाज का बिगाड़ करके अपनी भलाई करने का विचार जो करेगा, वह गलत सोचेगा। यह विकृत अवस्था है। इसमें उसका भी भला नहीं होने वाला, क्योंकि समाज जिस स्थिति में पहुंचेगा, उसे व्यक्ति को ही भोगना पड़ेगा।"

व्यष्टि व समष्टि को पृथक-पृथक करके नहीं देखा जा सकता। भारतीय विचारकों ने इन दोनों को समग्र रूप में देखा व जाना।

"..... हमारे उपनिषदों में कहा गया है कि जो व्यष्टि की उपासना करता है, वह अंधकार को प्राप्त होता है और जो केवल समष्टि की उपासना करता है, वह भी अंधकार में पड़ता है। भारतीय पद्धति के अनुसार दोनों का समन्वय चाहिए। व्यष्टि की उपासना

कर मृत्यु को जीतना चाहिए और समष्टि की उपासना कर अमरता प्राप्त करनी चाहिए। व्यष्टि को समष्टि में विलीन करने के लिये हम प्रयत्नशील हैं। व्यक्ति (व्यष्टि) मरणशील है, जबकि समष्टि अमर है।"[१]

समाज की समस्याओं को समग्र रूप में देखना होगा

व्यक्तिवाद यदि व्यक्ति को महत्व देकर आदर्श स्थिति की कल्पना करता है तो समाजवाद समाज व समष्टि को महत्व देकर आदर्श स्थिति की कल्पना करता है। पाश्चात्य विचारकों ने आदर्श स्थिति की खोज में एक समग्र समस्या को अनेक टुकड़ों में बांटकर भिन्न-भिन्न समस्याओं के निराकरण हेतु अपने सुझाव दिये। इस विभाजन ने समस्या को सुलझाने के स्थान पर और जटिल बना दिया। समाज की समस्याओं को वर्गीकृत करके या विभाजित करके देखना ऐसा ही है जैसे किसी सावयव के रोग को समग्र रूप में न देखकर अलग-अलग अंगों की व्याधि के रूप में देखा जाय। सिर में पीड़ा हुई और उसके उपचार हेतु एक ओषधि का सेवन किया गया। पेट में पीड़ा हुई और उसके उपचार हेतु एक अन्य ओषधि का सेवन किया गया। सिर की पीड़ा की ओषधि पेट के लिये हानिकर सिद्ध हुई और पेट की पीड़ा की ओषधि सिर के स्वास्थ्य के लिये घातक सिद्ध हुई। यह इसीलिये हुआ कि उपर्युक्त दोनों रोगों को पृथक-पृथक करके देखा गया, जबकि वास्तव में ये दोनों रोग एक ही रोग के दो अलग-अलग परिणाम हैं।

चिकित्सा का अभीष्ट किसी एक अंग के रोग को समाप्त करना नहीं, बल्कि समग्र सावयव को नीरोग व स्वस्थ करना है। समाज की एक समस्या का निराकरण यदि खोज भी लिया जाये तो कोई आवश्यक नहीं कि समाज पूरी तौर से स्वस्थ हो ही जायेगा। एक समस्या का निराकरण अन्य नयी समस्या को जन्म दे सकता है। निरक्षरता को समाप्त करने के लिये असंख्य विद्यालय, महाविद्यालय व विश्वविद्यालय खोल दिये गये। क्या उनकी स्थापना से समाज की समस्याएं सुलझ गयीं? समस्याएं सुलझने के स्थान पर और जटिल हो गयीं और शिक्षित लोगों की भीड़ ने अन्य अनेक समस्याओं को जन्म दे दिया। किसी एक राज्य में सर्पों की संख्या बहुत बढ़ गयी। इससे जनता को कष्ट होना प्रारंभ हुआ। राजा ने सूचना प्रसारित करा दी कि जो सर्प मारकर लायेगा उसको पुरस्कृत किया जायेगा। पुरस्कार प्राप्त करने की होड़ लग गयी, जिसने कुछ सामाजिक दोष उत्पन्न कर दिये। अन्य दोष सर्पों के अभाव से यह उत्पन्न हो गया कि चूहों की संख्या में भयानक वृद्धि होने लगी।

इसी प्रकार व्यक्ति ने आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु आर्थिक उन्नति की दिशा में दौड़ लगानी प्रारंभ की और आर्थिक सम्पन्नता ने कितनी ही सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक समस्याओं को जन्म दे डाला। हमारा अभीष्ट जब व्यक्ति व समाज को अधिकतम संतोष पहुँचाना व उनका अधिकतम कल्याण करना है तो उनकी समस्याओं को टुकड़ों-टुकड़ों में विभाजित करके देखने व उनका पृथक-पृथक निराकरण करने से कोई लाभ नहीं होगा।

यद्यपि पाश्चात्य विचारकों को यह श्रेय अवश्य प्राप्त हुआ कि उन्होंने राजनीति को एक स्वतंत्र अध्ययन-विषय के रूप में प्रस्तुत किया, परन्तु इस बात पर विचार करना भी अपेक्षित है कि इससे मानव-कल्याण पर क्या प्रभाव पड़ा? यदि राजनीतिक विषयों पर विचार करना ही अभीष्ट होता तो यह स्वीकार किया जा सकता था कि पाश्चात्य विद्वानों ने पृथक विषय की स्थापना द्वारा बहुत प्रशंसनीय कार्य किया। परन्तु वास्तविकता यह है कि मात्र विचार करना ही अभीष्ट न उस समय था और न इस समय है। अभीष्ट तो यह है कि एक ऐसी आदर्श सामाजिक व्यवस्था की खोज की जाये जो मानव का अधिकतम कल्याण कर सके। समाज की समस्त समस्याएं एकीकृत हैं। बातों को अलग-अलग देखने की प्रवृत्ति ने विशिष्टीकरण को जन्म दिया है जो बड़े अंशों में समाज के विघटन का कारण बना है। इस कारण पं० दीनदयाल उपाध्याय ने एकात्म मानववाद के अपने सिद्धान्त के अन्तर्गत राष्ट्रीय व सामाजिक समस्याओं को अलग-अलग देखने और उनका अलग-अलग हल खोजने का विरोध किया है।

राष्ट्र एक सावयव है

राष्ट्र व समाज के किसी एक अंग पर स्वतंत्र रूप से पूर्ण

विचार नहीं किया जा सकता। ये समस्त अंग एक दूसरे पर आश्रित हैं। सब व्यक्ति एक दूसरे पर उसी प्रकार आश्रित हैं, जिस प्रकार शरीर के अंग एक दूसरे पर आश्रित रहते हैं और सब व्यक्ति समाज से इसी प्रकार जुड़े हुए भी हैं, जैसे विभिन्न अंग शरीर से जुड़े हुए हैं। सब अंगों का व शरीर का एक सा ही महत्व है। यदि कोई अंग स्वयं की ही परवाह करता हो और अन्यों की परवाह न करता हो तो इससे उत्पन्न हानि से वह स्वयं भी नहीं बच पाता। जब व्यक्ति समाज के प्रति कर्तव्य का पालन न करते हुए व्यक्तिगत लाभ के लिये कार्य करता है तो वह भूल जाता है कि प्रकारान्तर से वह स्वयं को ही हानि पहुंचा रहा है। किन्तु जब तक स्पष्ट हानि उसको नहीं होती, वह लाभ के भ्रम में रहता है। ओषधियों में मिलावट करने वाला अन्यों को कष्ट पाते देखकर मिलावट करना नहीं छोड़ता। उसकी आंखें तब खुलती हैं जब मिलावटी ओषधि के उपयोग से उसका अपना स्वजन ही मृत्यु का ग्रास बन जाता है। प्रत्यक्ष में हानि होने तक व्यक्ति का यह भ्रम बना रहता है कि अन्यों को भले ही हानि हो, उसको तो लाभ ही है, जबकि वास्तव में ऐसा होता नहीं है। शरीर के एक अंग की अस्वस्थता का प्रभाव उसी अंग तक सीमित नहीं रहता। वह दूसरे अंगों की अस्वस्थता का भी कारण बन जाता है। इसी प्रकार समाज के एक व्यक्ति का पिछड़ापन समाज के अन्य लोगों के पिछड़ेपन का कारण बनता है।

व्यक्ति की प्रकृति के समान राष्ट्र की भी एक विशिष्ट प्रकृति है

प्रत्येक व्यक्ति का एक निश्चित प्रकार का स्वभाव होता है। कोई क्रोधी स्वभाव का होता है तो कोई शान्त स्वभाव का। कोई नम्र होता है तो कोई अंहकारी। कोई अन्तर्मुखी होता है तो कोई बहिर्मुखी। ".....किसी राष्ट्र के सभी नागरिकों की इच्छाओं का योग राष्ट्र की इच्छा नहीं कही जा सकती। यद्यपि अधिकांश मामलों में दोनों एक जैसी हो सकती हैं, राष्ट्र की इच्छा उसके नागरिकों की इच्छा से बिल्कुल अलग राष्ट्र की अपनी 'इच्छा' होती है, क्योंकि राष्ट्र की उसके नागरिकों के समूह से अलग अपनी एक सत्ता होती है, और प्रत्येक सत्तावान वस्तु की अपनी इच्छा होती है।"[3] राज्य या राष्ट्र का भी इसी प्रकार एक स्वभाव या प्रकृति होती है। यदि व्यक्ति प्रगति करता है तो स्वभाव के अनुकूल ही प्रगति करता है। इसी प्रकार राष्ट्र आगे बढ़ता है तो एक निश्चित मार्ग पर ही आगे बढ़ता है। यदि व्यक्ति को कोई व्याधि लगती है तो उसका उपचार उसकी प्रकृति को ध्यान में रखकर करने से ही लाभ होता है। आयुर्वेदिक उपचार-पद्धति में वात, पित्त व कफ की प्रकृति के आधार पर व्यक्तियों का वर्गीकरण किया गया है। उपचार हेतु व्यक्ति की प्रकृति पर अवश्य ध्यान देना होता है। एक रोग की एक निश्चित व निर्दिष्ट ओषधि है। वह रोग उस ओषधि से ठीक हो सकता है, किन्तु यदि व्यक्ति की प्रकृति के प्रतिकूल है तो ओषधि प्रभावकारी नहीं होती।

भारत पर एक लम्बे समय तक विदेशियों का आधिपत्य रहा। भारत की समस्याओं का निदान वैदेशिक अनुभवों के आधार पर किया गया। विदेशियों द्वारा भारत छोड़कर जाने के उपरान्त भी वैदेशिक सूत्रों के माध्यम से समस्याओं के निराकरण की प्रक्रिया समाप्त नहीं हुई। कुछ मामलों में तो वैदेशिक हल भारत की 'चिति'[3] के अनुकूल सिद्ध हुए, परन्तु अनेक ऐसे मामले भी रहे जहाँ वैदेशिक सूत्र भारत के लिये पूरी तरह प्रतिकूल सिद्ध हुए। आज के भारत की समस्याओं का एक बड़ा कारण यही तथ्य है। पं० दीनदयाल उपाध्याय ने उचित ही कहा था कि स्वतंत्रता के पश्चात् भी भारतीय नेतृत्व ने व्यक्ति की सामाजिक भूमिका का उचित व सही ज्ञान नहीं कराया, उन्होंने पाश्चात्य विचारों को भारतीय संदर्भ में उतारने का प्रयास किया। देश की समस्याओं को सुलझाया न जा सका, बल्कि समस्याएं बढ़ती ही चली गयीं।

भारत के स्वातन्त्र्योत्तर विचारकों की भी यह दुर्बलता रही कि वे भारत की प्रकृति के अनुकूल भारत की समस्याओं का हल नहीं निकाल पाये। इस दुर्बलता का भी एक बड़ा कारण भारतीय विचारकों पर पाश्चात्य प्रभाव का अतिरेक था, जबकि भारत की समस्याओं का निदान भारत की मिट्टी में से ही खोजा जाना अपेक्षित था।

भारत राष्ट्र की प्रकृति और उसका आदर्श

भारत की मूल प्रकृति धार्मिक है। भारत के प्राण धर्म में हैं। धर्म का अर्थ आराधना-पद्धति या पूजा-पद्धति नहीं है। इस स्थल पर यदि पं० दीनदयाल उपाध्याय के ही शब्दों को उद्धृत किया जाय तो उचित होगा। "धर्म की जो साधारण व्याख्या की गयी है, वह व्याख्या है 'धारणात् धर्म विज्ञाति', कि धारण से धर्म है। यानी, जिस वस्तु के कारण, जिस शक्ति के कारण, जिस भाव के कारण, जिन नियमों के कारण, जिस व्यवस्था के कारण कोई वस्तु टिके, वह धर्म है और इसलिये सम्पूर्ण प्रजा, जनसमाज और उससे भी यदि आगे बढ़ना हो तो सृष्टि, की भी धारणा धर्म के द्वारा होती है; जिससे ये टिके हैं, वह धर्म है। धर्म हट जाये तो वह वस्तु टिकेगी नहीं, वह समाप्त हो जायेगी"।[४] भारतीय विचारकों द्वारा उस धर्म व व्यवस्था पर विचार किया गया, जो भारत राष्ट्र को धारण कर सके। जो व्यवस्था राष्ट्र को पतित कर दे और राष्ट्र को तिरोहित कर दे, वह धर्म नहीं है। भारत में धर्म को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। राष्ट्र में स्थापित होने वाली सभी संस्थाएं धर्म के अधीन रहनी चाहिए; यहां तक कि राजनीतिक व्यवस्था भी धर्म के अन्तर्गत व धर्म के अनुकूल ही स्थापित होनी चाहिए। राज्य यद्यपि महत्वपूर्ण है, परन्तु धर्म से परे नहीं।

.....राज्य तो धर्म के विभिन्न अवयवों एवं अंगों में से एक है; निस्संदेह वह महत्वपूर्ण है, परन्तु धर्म से ऊपर नहीं। वह धर्म के अधीन है। सार्वभौमिकता तो धर्म की है। धर्म ही राष्ट्र को शक्ति प्रदान करता है। संविधान भी धर्म के अनुकूल ही होना चाहिए। धर्म राष्ट्र की 'चिति' का संग्रहालय है। यदि धर्म नष्ट हो जाता है, तो राष्ट्र का भी नाश हो जाता है।'"[५]

भारतीय विचारकों के मनन का उद्देश्य एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था की खोज रही है, जो सर्वथा न्यायपूर्ण हो। न्यायपूर्ण वह स्थिति है, जो पूरी तरह से प्राकृतिक और स्वाभाविक है। जो नाटकीय व प्रकृति-विरुद्ध है, वह अन्यायपूर्ण है। हमारा अपना धर्म वही है जो हमारे लिये अधिकतम स्वाभाविक है। व्यक्ति की कुछ अनिवार्य आवश्यकताएं होती हैं। समाज में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति की इन आवश्यकताओं की पूर्ति करनी है, इसीलिये सब पर कुछ नियंत्रण रखना अपेक्षित होता है। सामाजिक व्यवस्था इसी का परिणाम है। धर्म उस सामाजिक व्यवस्था का मूल आधार है। धर्म व्यक्ति को निर्देशित करता है कि आवश्यकताओं की पूर्ति में और सामाजिक व वैयक्तिक प्रगति में संतुलन कैसे स्थापित किया जा सकता है। प्लेटो के न्याय-सिद्धान्त का आधार भी वास्तव में भारतीय दर्शन है, जिसके द्वारा यह बताया गया है कि प्रत्येक व्यक्ति की सामाजिक व्यवस्था में एक निश्चित व निर्दिष्ट भूमिका है। यह भूमिका ही उसके लिये सबसे अधिक स्वाभाविक व प्राकृतिक है। सामाजिक सावयव में प्रत्येक अवयव अपनी स्वयं की भूमिका का निर्वाह करे और अन्य अवयवों के लिये हानिकर न हो, यही न्यायपूर्ण स्थिति है। न्याय में व आवश्यकताओं की पूर्ति में भी एक घनिष्ट संबंध है। यदि न्याय नहीं है तो आवश्यकताओं की पूर्ति संभव नहीं है।

व्यक्ति की आवश्यकताएं मात्र आर्थिक ही नहीं हैं। पं० दीनदयाल उपाध्याय का कहना है कि "हम व्यक्ति को शरीर की भौतिक आवश्यकताओं का पुंज ही नहीं मानते। हमने उसकी बौद्धिक, मानसिक और आध्यात्मिक आवश्यकताओं को भी महत्व दिया है। परन्तु पश्चिम में अधिकांश लोग शरीर की भौतिक आवश्यकताओं को ही महत्व देते हैं। वे शरीर की भौतिक और आध्यात्मिक आवश्यकताओं के बीच संघर्ष की स्थिति मानते हैं। इसमें वे भौतिक आवश्यकताओं को प्रमुखता प्रदान करते हैं। यह सत्य है कि व्यक्ति और समाज में संघर्ष के क्षण आते हैं, परन्तु यह स्थिति अस्वाभाविक है, असामान्य है। यह स्थिति धर्म की नहीं, यह तो विकृति है।"[६]

भारत का अपना एक विशिष्ट आदर्श है। इस आदर्श का सृजन उसके संचित अनुभव से हुआ है। भारत के दार्शनिकों ने मनन, चिन्तन व अनुभव द्वारा भारत के आदर्श का पता लगाया है। जो चिन्तन भारत की चिति व आदर्श के जितना अनुकूल होता है, वह भारतीय जनमानस को उतना ही अधिक प्रभावित व आन्दोलित करता है। गांधी जी के द्वारा प्रतिपादित कोई भी सिद्धान्त मौलिक नहीं है, परन्तु फिर भी उनके विचारों ने भारतीय जनमानस को सबसे अधिक प्रभावित किया। इसी प्रकार

पं० उपाध्याय के विचार भारतीयता से पूरी तरह से ओत-प्रोत हैं, इसलिये इस देश के लोगों के लिये अधिक ग्राह्य हैं।

व्यक्ति की आवश्यकताओं में एकात्मता

भारतीय वाङमय में व्यक्ति व उसकी आवश्यकताओं पर टुकड़ों-टुकड़ों में विचार नहीं किया गया है। व्यक्ति पर समग्र रूप से विचार किया गया है। पंडित उपाध्याय के एक सहयोगी ने लिखा है—"भारतीय दर्शन के अनुसार पंडित जी ने मानव को एक पूर्ण इकाई के रूप में देखा, जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की चार मूल प्रेरणाओं से प्रेरित है। उन्होंने इस पुरातन सत्य विचार को वर्तमान राजनीतिक और आर्थिक आवश्यकताओं की पृष्ठभूमि में आधुनिक परिधान में प्रस्तुत किया।"[3] एकात्म मानववाद का विचार पुनर्स्थापित करते हुए पं० दीन दयाल जी ने एक अन्य स्थल पर कहा है कि "मनुष्य मन, बुद्धि, आत्मा तथा शरीर—इन चारों का समुच्चय है। हम उसका टुकड़ों-टुकड़ों में विचार नहीं करते।"[4]

समाज के विभिन्न अंगों में—सावयव के विभिन्न अवयवों में तथा व्यक्ति की विभिन्न प्रेरणाओं—धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष—में या आवश्यकताओं में समन्वय की स्थापना ही न्यायपूर्ण स्थिति है। पं० उपाध्याय के इस विचार के संदर्भ में श्री टेंगड़ी ने इन शब्दों का प्रयोग किया है—"इस प्रकार, समाज के सभी अंगों के साथ समान रूप से तथा एक साथ ही, उनमें से किसी एक के साथ भी बिना कोई अन्याय किये, लगाव बनाये रखा जा सकता है। आवश्यकता होती है एक यथार्थवादी तथा भेद-विहीन दृष्टिकोण की। मानव की भी कल्पना भेद-विहीन रूप में की जानी चाहिए, किसी व्यक्ति के शरीर, मस्तिष्क, दृष्टि एवं आत्मा की कल्पना सम्यक् रूप से ही, न कि अलग-अलग करनी चाहिए।

"इसी आधार पर उपाध्याय जी ने अपने 'समन्वयकारी मानववाद' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, जो पाश्चात्य देशों की संकुचित एवं सीमाबद्ध विचारधाराओं के ठीक विपरीत है। इन विचारधाराओं के ही कारण जीवन के सभी स्तरों तथा क्षेत्रों में पारस्परिक झगड़े तथा संघर्ष उत्पन्न हो गये हैं। बीज, अंकुर, तना, शाखा, पत्तियाँ तथा फल एक ही अबाधित विकास-प्रक्रिया के विभिन्न अंग हैं। उनमें आपस में कोई विपरीतता या अनन्यता नहीं है।"[5]

समन्वय हेतु प्रत्येक अंग व प्रत्येक स्तर पर नियंत्रण व संयम अपेक्षित है। यदि मात्र अधिकारों की बातें कही गयीं तो न्याय की स्थापना असंभव है। अपने एक बौद्धिक में उपाध्याय जी ने कहा था—"पश्चिम में प्रत्येक अपने अधिकारों की रक्षा के लिये प्रयत्नशील रहता है।.... हमारी प्रेरणा अधिकारों की नहीं, कर्तव्य की है। हम कर्तव्य का आधार लेकर चलते हैं। हम सेवा का विचार करते हैं, अपनी एकात्मता और सहिष्णुता का अनुभव करते हैं।"[6] कर्तव्य-पालन के बिना धर्म का अस्तित्व व न्यायपूर्ण व्यवस्था—दोनों ही समाप्त हो जाते हैं।

प्रजातन्त्रात्मक पद्धति को अधिकारों के साथ जो जोड़ दिया गया, वह इसलिये नहीं कि अधिकारों से ही प्रजातंत्र का अस्तित्व रहता है। प्रजातंत्रात्मक पद्धति के लिये तो कर्तव्य, समन्वय, संयम, धर्म व न्याय और भी अधिक आवश्यक हैं। अधिकारों को प्रजातंत्र में जो इतना महत्व दिया जाने लगा, उसका कारण यह था कि इस पद्धति की स्थापना अधिकारवाद के विरुद्ध विद्रोह के परिणामस्वरूप हुई थी। प्रजातंत्र एक प्रकार से संघर्ष का प्रतीक बन गया और कर्तव्यों के महत्व को भुला दिया गया। प्रजातंत्र का वर्तमान रूप अव्यवस्था व अशान्ति का स्वरूप बन कर रह गया है। इस ने व्यक्ति को जो सबसे बड़ी हानि पहुंचाई है, वह यही है कि उसको केवल अधिकारों के प्रति सचेत व सतर्क किया है और संयम व कर्तव्य के प्रति उदासीन बना दिया है। प्रजातंत्र ने व्यक्ति को यह भुला दिया कि सबकी स्वतंत्रता के लिये सबके द्वारा संयम अपनाया जाना आवश्यक है। स्वार्थी तत्त्वों ने व्यक्ति की अर्थ व काम की प्रवृत्तियों को प्रेरित किया। वे यह भली प्रकार जानते थे कि लोकप्रिय बनने के लिये उनकी निम्न प्रवृत्तियों को ही प्रेरित करना चाहिए। धर्म या कर्तव्य की बात करने से उनको यह भय था कि वे अलोकप्रिय न हो जायें और सत्ता से वियुक्त न कर दिये जायें।

मानव की यह भूल रही कि उसने अपनी विभिन्न प्रकार की आवश्यकताओं में समन्वय स्थापित नहीं किया और केवल भौतिक आवश्यकताओं के पीछे भाग कर उसने स्वयं के लिये ही समस्याओं का एक जाल रच लिया। आज जो मात्र अधिकारों की दुहाई देते हैं, उन्होंने क्या कभी सोचा है कि वे प्रकारान्तर से अपने स्वयं के लिये भी पतन के वातावरण का निर्माण कर रहे हैं? व्यक्ति और समाज के हित अलग-अलग नहीं है, वे तो एक से ही हैं। "यदि व्यक्ति को स्वतंत्र होना है तो समाज स्वतंत्र चाहिए। व्यक्ति का समर्पण समाज के लिये आवश्यक है। साथ ही व्यक्ति को समर्थ बनने और विकास करने में सब प्रकार की स्वतंत्रता देने का कार्य समाज का है। यह व्यष्टि और समष्टि का संबंध हम लोगों ने स्वीकार किया है। इस प्रकार हम समाजवादी नहीं, समन्वयवादी हैं।"[११]

अध्यक्ष, राजनीतिशास्त्र विभाग,
महारानी लक्ष्मीबाई कला एवं वाणिज्य
महाविद्यालय, ग्वालियर (मध्य प्रदेश)

संदर्भ :

१. उपाध्याय, श्री दीनदयाल जी; पंडित दीनदयाल उपाध्याय : व्यक्ति-दर्शन, सम्पादक : कमल किशोर गोयनका, दीनदयाल शोध संस्थान, नयी दिल्ली-५५, १९७२.
२. पं० दीनदयाल उपाध्याय के विचार का उल्लेख श्री दत्तोपंत ठेंगडी ने पूर्वोद्धृत में किया है।
३. राष्ट्र की प्रकृति को पं० दीनदयाल जी ने 'चिति' कहकर पुकारा है।
४. उपाध्याय, श्री दीनदयाल जी, राष्ट्र धर्म, वार्षिकांक मई ७८, राष्ट्र धर्म प्रकाशन, लखनऊ, पृष्ठ ९६-९७.
५. ठेंगड़ी, दत्तोपंत, पंडित दीनदयाल उपाध्याय : व्यक्ति-दर्शन, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ-९६
६. उपाध्याय, श्री दीनदयाल, पश्चिम और हम, राष्ट्र धर्म, मई ७८, पूर्वोद्धृत
७. माथुर, श्री जगदीश प्रसाद, जनसंघ के मूल विचारक पं० दीनदयाल उपाध्याय, पूर्वोद्धृत पं० दीनदयाल उपाध्याय : व्यक्ति दर्शन
८. उपाध्याय, पं० दीनदयाल, एकात्म मानववाद
९. ठेंगड़ी, पूर्वोद्धृत स्थल पर ही
१०. राष्ट्र धर्म, वार्षिकांक, मई १९७८ के पृष्ठ ७५ पर प्रकाशित
११. उपाध्याय, पं० दीनदयाल, पंडित दीनदयाल उपाध्याय, व्यक्ति-दर्शन पृष्ठ-१९१.

ग्रन्थ-सार

डा० श्यामबहादुर

दशावता
निहित 'ह
जीवन क

डा० श्यामबहादुर वर्मा

दशावतार-कथा में निहित 'हमारे राष्ट्र-जीवन की परम्परा'

बीसवीं शताब्दी के एक तेजस्वी समाजसेवी के रूप में प्रसिद्ध स्वर्गीय बाबा साहब आप्टे (श्री उमाकान्त केशव आप्टे) भारतीय आदर्शों और तदनुरूप व्यवहार की एक सात्विक प्रतिमा थे। उनका विचारदर्शन गंभीर अध्ययन, मनन, अखंड कर्मशक्ति और राष्ट्रीयता से एकात्म्य की समन्वित देन था। उनकी वाणी और कर्मशील व्यक्तित्व में राष्ट्रीय चैतन्य को जगाने, विलासी जीवन को ठुकराकर साधनामय जीवन स्वीकार करने तथा वैयक्तिक महत्वाकांक्षाओं के स्थान पर राष्ट्रीय महत्वाकांक्षाओं को जगाने की प्रेरणा देने की अद्भुत शक्ति थी। उनकी एक और विशेषता थी समाज के विचारशील अध्येताओं का ध्यान अपने प्राचीन वांड्मय की ओर आकर्षित कर उसके अमृत तत्त्व का पान करने की प्रेरणा जगाना। इसी दृष्टि से उनके हिंदी-ग्रंथ 'हमारे राष्ट्रजीवन की परंपरा' का अपना महत्व है।

'हमारे राष्ट्रजीवन की परंपरा' १९५१ ई० में भारत प्रकाशन, धंतोली, नागपुर द्वारा प्रकाशित की गयी थी। मूलतः यह पुस्तक मराठी में एक वर्ष पूर्व प्रकाशित हुई थी। एक वर्ष बाद अनेक परिशोधनों व परिवर्धनों के साथ अधिक सुस्पष्ट बनी मराठी कृति का श्री ना० गं० वझे द्वारा सरस तथा साहित्यिक हिन्दी में किया गया प्रवाहपूर्ण अनुवाद ही हिन्दी का यह मात्र १५० पृष्ठों का, किन्तु अत्यन्त मननीय ग्रंथ है।

श्री आप्टे को 'हमारे राष्ट्रजीवन की परंपरा' लिखने की प्रेरणा प्राचीन भारतीय इतिहास व पुराण-ग्रंथों के अध्ययन से तो मिली ही थी, जयचन्द्र विद्यालंकार, श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, बाबा साहब परांजपे, प्राध्यापक माटे, विनोबा भावे, काका कालेलकर आदि कितने ही विद्वानों के ग्रंथों, लेखों अथवा भाषणों का भी उसमें योगदान था। कृति की प्रस्तावना लिखने का दायित्व उनकी इच्छानुसार श्री माधव सदाशिव राव गोलवलकर (श्री गुरुजी) ने अत्यंत योग्यतापूर्वक निभाया था। इस ९ पृष्ठीय प्रस्तावना का भी अपना मूल्य है। १५० पृष्ठों की विचार-सामग्री को श्री आप्टे ने ७ अध्यायों में इस प्रकार विभाजित किया था—

१. विषय-प्रवेश (पृष्ठ १-९)

२. भारतीय संस्कृति का आरम्भकाल (१०-२६)
३. राष्ट्रभावना का साक्षात्कार (३०-५५)
४. राज्यतंत्र की समस्या (५६-११३)
५. राष्ट्रीय शिक्षा-योजना (११४-१३८)
६. भारतीय राष्ट्रीयत्व की कसौटी (१३६-१४६)
८. उपसंहार (१४७-१४६)

प्रस्तावना

प्रस्तावना में अत्यंत विद्वान लेखक श्री गुरुजी ने प्राचीन वांङमय में वर्णित परमेश्वर के अनेक अवतारों में से मत्स्यादि दस अवतारों की प्रमुखता की मार्मिक कारण-मीमांसा की है। इन दस अवतारों की ही विशेष लोक-प्रियता क्यों है, इसका व ऐसे अन्य प्रश्नों का उत्तर, अवतार के जीवन के सर्वसामान्य उद्देश्य—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

(सज्जनों की रक्षा करने के लिये, दुष्टों के नाश के लिये तथा धर्म-संस्थापना के लिये युग-युग में प्रकट होता हूं— श्रीकृष्ण की गीता में प्रसिद्ध उक्ति) से प्राप्त हो सकता है।

'धर्म' शब्द का परंपरा-प्रसिद्ध अर्थ है वह तत्त्व जिसके द्वारा अभ्युदय (इस लोक में विकसित अवस्था) तथा निःश्रेयस् (मरणोत्तर जीवन में विकसित अवस्था)— दोनों की प्राप्ति होती है। इस परिभाषा में समाज का सुव्यवस्थित होना, सुखी होना तथा सुसंगठित रहना निहित ही है। अर्थात् धर्म वह है जिससे व्यक्ति-व्यक्ति का ऐहिक जीवन सुख-साधनों से समृद्ध होकर व्यक्ति-व्यक्ति को पशुत्व से मानवत्व की ओर और मानवत्व से दैवी संपत्ति रूप गुणों को प्राप्त कर, मोक्ष की ओर बढ़ने की प्रेरणा प्राप्त होती है तथा अनुकूल परिस्थिति का लाभ होता है। समाज की व्यवस्था भंग हुई तो व्यक्ति की धर्मसाधना भी नहीं चल सकती। व्यक्ति का अभ्युदय तो सामाजिक अभ्युदय पर निर्भर है ही, व्यक्ति की निः-श्रेयस्-साधना भी समाज की सुव्यवस्था और शांति पर ही निर्भर है। अतः, जिन्होंने सुव्यवस्था का निर्माण और उसकी रक्षा करने में अपनी अलौकिक श्रेष्ठता प्रकट की, उन्हीं की स्मृति समाज के हृदयपटल पर अमिट अक्षरों में अंकित हुई और ऐसे श्रद्धेय महापुरुष ही भगवान के अवतार के रूप में प्रतिष्ठित हो गये।

हमारे समाज के सुव्यवस्थित सुखी जीवन के मार्ग में दो प्रकार की बाधाएँ आयीं। या तो पराये समाज के आक्रमणों की बाधा आयी या अपने ही समाज के मदांध राज्य-सत्ताधारियों द्वारा समाज को सत्संस्कार देने वाले (सत्ता व संपत्ति से अलग, ज्ञानी, शीलवान्, तपस्वी, त्यागी-विरागी तथा उज्ज्वल चरित्र से समाज पर अपना प्रभाव रखने वाले) श्रेष्ठ पुरुषों के वर्ग पर अत्याचार तथा राष्ट्रजीवन के आत्मास्वरूप संस्कृति को ही नष्ट करने के आयोजनों की बाधा आयी। पराये समाज के आक्रमण के कारण त्रस्त व दीन तथा आक्रामकों के भौतिक सामर्थ्य को देख हतप्रभ हुए व निराश बने हुए समाज में जो अलौकिक पुरुष आशा का नवचैतन्य उत्पन्न करता है, समाज की अनंत शक्तियों का केन्द्रीकरण कर अपनी नेतृत्व-कुशलता के द्वारा समाज के हाथों दुष्ट आक्रामकों का पराभव कराते हुए, समाज के त्राता के रूप में उठ खड़ा होता है, उसने अवतार का एक महत्वपूर्ण कार्य पूरा किया, ऐसा कहा जा सकता है। दशावतारों में से अधिकांश अवतारों के जीवन में, उत्कटता के साथ व्यक्त हुआ अवतार-कार्य का यह भाग हमें सहज में ही दिखायी पड़ता है। इसी प्रकार, अपने ही समाज के अंग, परन्तु उन्मत्त, सत्ताधारियों द्वारा लाये गये संकटकाल में जब अधर्म का बोलबाला था, धर्माचरण करने वाले सज्जनों व सत्संस्कार देनेवाले ऋषि-वर्ग पर अत्याचार हो रहे थे और सत्ताधारी दुष्ट प्रबल हो रहे थे, तब उन उन्मत्त दुष्टों को दंडित कर समाज-हित-चिंतक तपस्वी जनों की रक्षा करने वाले अर्थात् धर्म-संस्थापन करने वाले जो असामान्य अद्भिमानव महापुरुष उत्पन्न हुए, पददलित समाज के सुप्त आत्मविश्वास व सामर्थ्य को जिन्होंने जगाया, असीम कर्तव्य, परमोच्च चारित्र्य तथा निरुपम त्याग-तिशय राष्ट्रप्रेम को जिन्होंने प्रत्यक्ष आचरण में लाकर दिखाया और जिन्होंने अपने आचरण से समाज को सिखाया कि व्यक्ति चाहे कितना ही महान क्यों न हो, राष्ट्र से बड़ा नहीं हो सकता और इसीलिये राष्ट्र व समाज का सम्मान करते हुए अपने व्यक्तिगत मतों को राष्ट्र के

अनुरूप ढाल लेना और समाज-हित के लिये अपने सुख को तिलांजलि देना ही व्यक्ति का परम कर्तव्य है—यह जिन्होंने अपने पवित्र जीवन से स्वयं करके दिखाया, वे भगवान रामचन्द्र व भगवान श्रीकृष्ण ही सर्वश्रेष्ठ अवतारों के रूप में समाज के प्रेम व आदर के केंद्र-स्थान बने।

श्री गुरुजी ने आगे प्रस्तावना में कहा है कि इस प्रकार विचार करने पर हमें यह सिद्धान्त उचित लगने लगता है कि हमारे दशावतारों की कथा भारतीय राष्ट्रजीवन के क्रमशः विकास का इतिहास है। इसी सिद्धान्त को प्रस्तुत ग्रंथकार ने प्रस्थापित एवं विशद करने का प्रयत्न किया है, जिससे भारतीय समाज-रचना का स्वरूप तो स्पष्ट होता ही है, समाज के राष्ट्रजीवन के आत्मा अर्थात् संस्कृति के संरक्षण व संवर्धन का महत्व भी ध्यान में आ जाता है।

श्री गुरुजी ने एक महत्वपूर्ण बात यह भी कही है कि वेद, रामायण, महाभारत, पुराण आदि प्राचीन वाङ्मय में, कथाओं व रूपकों में राष्ट्र और राष्ट्रीय संस्कृति का जो इतिहास चित्रित किया गया है, उसके माध्यम से भारतीय जनसमाज को अपनी राष्ट्रभावना को समझा देना, श्रेष्ठ राष्ट्रीय जीवनादर्शों को उसके ध्यान में लाना तथा उसमें स्वार्थ व भोगलोलुपता के स्थान पर राष्ट्रीय महत्वाकांक्षाएँ जगाना, आज की आवश्यकता है। इस अतीत इतिहास का क्रमबद्ध अध्ययन समाज के अन्तःकरण पर यह अंकित कर सकता है कि अनादि काल से अपने भारतीय राष्ट्र-जीवन का प्रवाह अखंड रहा है, उसकी गति अप्रतिहत है और वह अमर, विश्वविजयी, गौरवपूर्ण एवं प्रलयजेता है। यह ग्रंथ भी इसी आवश्यकता की पूर्ति के हेतु निर्मित हुआ।

प्रथम अध्याय : विषय-प्रवेश

१.१ दशावतार-कथा की लोकप्रियता और विशेषता

आप्टे जी ने प्रथम अध्याय में अनेक महत्वपूर्ण बातें कही हैं। भगवान के दस अवतारों की कथाएं भारत के सभी भागों के आबाल-वृद्धों में प्रचलित हैं, किन्तु इन कथाओं को सुनते समय हम अपनी इस प्रियतम मातृभूमि के प्राचीन इतिहास का एक गौरवपूर्ण प्रकरण सुन रहे हैं, ऐसी कल्पना बहुत ही कम लोगों के हृदय में झांकती होगी। कोई इसे 'भगवान की लीला' समझकर पुण्य-लाभ के लिये सुनता है और कोई इसे मनोरंजन की अक्षय सामग्री समझता है। कुछ विद्वानों की बात छोड़ दें तो अधिकांश शिक्षित कहा जाने वाला समाज इन सब बातों को निरर्थक मनगढंत कथाएं मानता है। किन्तु यदि थोड़ा विचार किया जाये तो यह ध्यान में आ जाता है कि ये पुराणान्तर्गत कथाएँ हमारे प्राचीन इतिहास की अमूल्य सामग्री संजोये हैं।

१.२ पुराणों का पठन किस पद्धति से होना चाहिए

पुराणों की शैली में वर्णनों को मनोरंजक व आकर्षक बनाने के लिये स्थान-स्थान पर अतिशयोक्ति का सहारा तो लिया ही गया है, अनेक बार संपूर्ण कथा को ही रूपक पद्धति से भी कह दिया गया है। इस पद्धति में रूपक का झीना पर्दा होने से सामान्य बालकों से लेकर विद्वानों तक के लिये एक ही ग्रंथ समान रूप से उपयोगी हो जाता है। एक अन्य बात भी पुराणों को पढ़ते समय ध्यान में रखनी आवश्यक है। प्राचीन भारतीय वाङ्मय में 'धर्म' शब्द पूजा-पाठ का पर्यायवाची नहीं था। जिसे आजकल समाज-जीवन का उत्कर्ष कहते हैं, उस सांसारिक अभ्युदय तथा उसके अंगभूत सुव्यवस्थित राज्यतंत्र का अन्तर्भाव 'धर्म' शब्द में करने की हमारी पूर्व-परम्परा है। इन दो बातों का ध्यान रखने पर पुराणों में वर्णित हमारा राष्ट्रीय जीवन स्पष्टतया चित्रित हो उठता है।

१.३ भारत का राष्ट्रीयत्व एक स्वयंभू सत्य

आप्टे जी ने राष्ट्रीयता की बड़ी स्पष्ट कल्पना देते हुए 'भारत का राष्ट्रीयत्व एक स्वयंभू सत्य है'—इस तत्त्व का प्रतिपादन किया है। राष्ट्रीयत्व की स्पष्ट कल्पना हमारी प्राचीन संस्कृति में बहुत पहले से ही प्रचलित रही है। किसी विशिष्ट भूभाग में निवास करने वाला लोक-समुदाय उसके सभी जनों के समान परिस्थितियों से उत्पन्न कुछ समान आदर्श और उन आदर्शों की पूर्ति के लिये जीवन-दृष्टि से किये जाने वाले समान संस्कार—यही तो

राष्ट्रीयत्व है। इसी प्रकार उस देश को अपना कहने वाले, उस पर परायों का आक्रमण होने पर अपनी सम्पूर्ण शक्ति से प्रतिरोध करने वाले, अपनी संस्कृति और परम्परा का अभिमान रखने वाले और इस प्रकार एकात्मता की प्रेम-डोर से बँधे लोगों का समुदाय ही तो राष्ट्र है। इस दृष्टि से देखें तो राष्ट्रनिष्ठा की भावना के सहस्रों प्रसंग हमारे इतिहास में हैं, किन्तु वे स्पष्टतया हमारे ध्यान में नहीं आते क्योंकि प्राचीन कालखंड की ओर हम लोग ऐतिहासिक दृष्टि से कभी देखते ही नहीं। राष्ट्रीयता की भावना को अपने जीवन में प्रकट करने वाले, अपनी परम्परा के भूषणभूत महापुरुष हमारे प्राचीन इतिहास में जिधर भी दृष्टि डालें, उधर सहस्रों की संख्या में दिखायी देंगे। किन्तु ये महापुरुष काल की दृष्टि से हमसे बहुत ही दूर होने के कारण उनके जीवन के यथार्थ मर्म को समझने के लिये हमें हृदय से उनके निकट पहुंचना होगा। उक्त राष्ट्र-भावना की परम्परा और उसका परिचय प्राप्त करने की दृष्टि से दशावतार-कथा का आगे क्रमशः विचार किया जायेगा।

१.४ प्राचीन भारत के देश-विभाग और लोक

किन्तु इसके पूर्व तत्कालीन भारत के भौगोलिक स्वरूप तथा उसके विभिन्न भागों में निवास करने वाली जातियों के संबंध में कुछ जान लेना आवश्यक है, क्योंकि तब भारत का स्वरूप आज का सा न था। अत्यन्त प्राचीन काल में दक्षिण का पठार अफ्रीका से संबद्ध था। कालान्तर में वह आर्यावर्त से जुड़ गया। आर्यावर्त के मानव-निवास-योग्य स्वरूप प्राप्त करने में भी अनेकानेक शताब्दियों का समय लगा होगा और उस बीच भूगर्भ की अनेक उथल-पुथल हुई होंगी तथा मरुभूमि और जलमय प्रदेशों की स्थितियों में भारी परिवर्तन हुए होंगे।

अत्यन्त प्राचीन काल में जब बीच के समुद्र के कारण दक्षिण भारत और उत्तर भारत अलग-अलग थे, तब दोनों ही प्रदेशों में भिन्न-भिन्न मानव-वंश निवास करते थे। उत्तर में 'देव' जाति की बस्ती हिमालय के पर्वतीय प्रदेश में थी और 'मानव' जाति मध्य देश में रहा करती थी। उसी प्रकार दक्षिण भारत में नाग, ऋक्ष, राक्षस और मत्स्य नाम की जातियाँ थीं। पश्चिमी किनारे पर नाग, विन्ध्य पर्वत के आस-पास ऋक्ष तथा दक्षिण में राक्षस और मत्स्य जातियों का वास था। राक्षस जातियों के लोग बहुत सभ्य थे और अफ्रीका तक फैले हुए थे। कालान्तर में भूगर्भ की उथल-पुथल के कारण हिमालय से कन्या कुमारी तक भारतवर्ष एक सुसम्बद्ध महादेश बन गया, फिर भी राक्षसों को अपने अफ्रीका-निवासी सजातियों का विस्मरण होने में बहुत समय लगा और उत्तर भारत पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने की महत्वाकांक्षा भी उनके हृदय में बहुत समय तक बनी रही थी।

तब हिमालय के पर्वतीय प्रदेश को स्वर्ग कहा जाता था, आर्यावर्त को मृत्युलोक और दक्षिण को पाताल या नाग-लोक और इस प्रकार इन तीनों को मिलाकर त्रिभुवन या त्रिलोकी कहकर पुकारा जाता था।

द्वितीय अध्याय : भारतीय संस्कृति का आरम्भकाल

द्वितीय अध्याय में श्री आप्टे ने मत्स्यावतार, कूर्मावतार और वराहावतार की कथाओं पर विचार किया है।

२.१ मत्स्यावतार-कथा और उसका ऐतिहासिक तात्पर्य

उस प्राचीन काल में, जब महर्षि मनु हिमालय के पश्चिमी ढाल् प्रदेश में रह रहे थे (जहाँ कांगड़ा जिले के मनाली ग्राम में उनकी स्मृति में प्रतिवर्ष उत्सव अब भी मनाया जाता है), दक्षिण के पठार का अफ्रीका से सम्बन्ध टूट चुका था और दक्षिण में रहने वाली असंस्कृत जातियों में मात्स्य न्याय प्रचलित था (अर्थात् जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाला सिद्धान्त)। समुद्र के किनारे रहने के कारण वे जातियाँ कुशल तैराक भी थीं, इसलिये भी उन्हें उत्तर भारत के लोग मत्स्य कहते होंगे। शत्रुओं से रक्षार्थ आश्रय की याचना करने वाले एक मत्स्य को मनु ने आश्रय और अभय-वचन दिया था और मनु के वचन का अर्थ उनके सम्पूर्ण समाज का आश्रय और अभय-वचन था। एक मत्स्य (या मत्स्य जाति के नेता) को आश्रय मिलते ही उस जाति के सहस्रों लोग मनु के आश्रम की ओर दौड़ पड़े। पुराणों में इसी का वर्णन यह कहकर

किया गया है कि मनु का आश्रय पाने वाला मत्स्य देखते ही देखते बड़ा होता गया। मत्स्य जाति के इन लोगों या इनके नेता ने मनु को आगामी जल-प्रलय की सूचना सात दिन पहले ही दे दी थी, क्योंकि निसर्ग की प्रेरणा के अनुसार व्यवहार करने की उनकी क्षमता बनी हुई थी। अतः आगामी भूकम्प और जल-प्रलय से मनु अपनी और अपने समाज की रक्षा करने में सफल हो सके। इसी घटना का उल्लेख पुराणों में मत्स्यावतार-कथा के रूप में किया है।

उस समय मनु के अन्तःकरण में इस भावना का प्रादुर्भाव हुआ कि उत्तर का हो या दक्षिण का, हर भारतीय अपना ही है। यहाँ पर मनु को भारतीय संस्कृति के ध्येय का ही मानो आभास मिल गया और उसके कारण हमारे इतिहास में एक नये युग का जन्म हुआ। मनु द्वारा रचित धर्मशास्त्र हमारा सर्वप्रथम राष्ट्रीय दंड-विधान बना। उत्तरकालीन समाज पर तो मनु का इतना गम्भीर प्रभाव पड़ा कि युग के अर्थ में 'मनु' शब्द का ही प्रयोग किया जाने लगा और काल-गणना मन्वंतर के मानदण्ड से होने लगी।

२.२ समुद्र-मंथन अर्थात् हृदय-मंथन

कूर्मावतार की कथा समुद्र-मंथन प्रसंग के अन्तर्गत पुराणों में वर्णित है। समुद्र-मंथन वास्तव में क्या बात होगी? इसे भी एक रूपक कथा ही मानना अनिवार्य है। मानव का हृदय भी तो किसी महासागर के समान ही होता है। हृदय की अच्छी-बुरी भावनाओं का विवेक-बुद्धि से मंथन किये जाने पर समाज-रचना के लिये उपयोगी समष्टि-जीवन और परस्पर सहकार्य का जो सिद्धान्त प्राप्त होता है, वह सांस्कृतिक महत्व की ऐतिहासिक उपलब्धि ही होती है।

जब उत्तर और दक्षिण भारत को प्रकृति ने एक कर दिया और दोनों क्षेत्रों के मनुष्यों के पारस्परिक संबंध बढ़ने लगे, तब अपनी-अपनी विशेषताओं और भेदों के कारण उनमें परस्पर विरोध बढ़ा। किन्तु अन्त में दोनों ही पक्षों के अनेक प्रभावी और विचारशील व्यक्ति विचार-विनिमय के लिये एक स्थान पर एकत्रित हुए और उन्होंने वहाँ पर खुले हृदय से जो चर्चा की, उनका वही 'हृदय-मंथन' पुराणों की भाषा में देवासुरों द्वारा किया गया 'समुद्र-मंथन' है।

२.३ कूर्मावतार

यह विचार-विनिमय शान्त रीति से हो सके, इसके लिये जिस महापुरुष को सर्वसम्मति से अध्यक्ष नियुक्त किया गया, वही कूर्मावतार के नाम से प्रसिद्ध है। उसके अभाव में मन्दराचल अपने भार से नीचे को धँसने लगा था और समुद्र-मंथन के कार्य में विघ्न उत्पन्न हुआ था। यह परस्पर दोष-दर्शन और छींटाकशी का पौराणिक संकेत है। यह अध्यक्ष महापुरुष कूर्म अर्थात् कछुए के सभी गुणों से युक्त था। वह अत्यधिक आशावादी और अध्यवसायी था तथा परिस्थिति को देखकर व्यवहार करने की कला उसे आती थी। इस अध्यक्ष ने सफलता-पूर्वक काम कर दिखाया, जिसके परिणामस्वरूप समाज के मानस-सागर के मंथन से अमृत की प्राप्ति हुई। सर्वहित-समन्वय, परस्पर-पूरकत्व और सहकार्य का संकल्प ही वह अमृत है।

उस कूर्म पुरुष के कौशल से परस्पर के विद्वेष का अन्त हुआ और हलाहल का शिव ने पान कर लिया। समाज में यह तत्त्वज्ञान प्रचलित हुआ कि सभी व्यक्ति समाज के विभिन्न अवयव मात्र हैं और भारतीय संस्कृति को इस तत्त्व ने अमर कर दिया। समुद्र-मंथन के द्वारा कामधेनु आदि की प्राप्ति देश की स्थावर-जंगम सम्पत्ति का आकलन कर उसे दोनों ही दलों में परस्पर सहमति से वितरित करने का ही एक रूपकात्मक वर्णन है। सर्वहित-समन्वय देवजाति के लोगों के आचरण में अधिक आ सका और राक्षसों में कम, क्योंकि उसके लिये संयम आवश्यक था, इसीलिये कहा गया कि अमृतपान केवल देव ही कर सके। किन्तु राहु और केतु नामक राक्षस भी इस अमृत तत्त्व का पान कर सके और उन्होंने आपस में एकात्मता स्थापित कर दक्षिण भारत में अपना अधिकार जमाने का प्रयत्न किया। दक्षिणी भारत का पूर्वी समुद्र तट 'सौर मंडल' कहलाता है और पश्चिमी समुद्र-तट 'चन्द्र-मंडल'। उन्हें ही उन्होंने क्रमशः अपने अधीन रखा।

मन्दराचल का यह समुद्र-मंथन 'मन्दर' पर्वत की सूचना देता है। यह पर्वत बिहार में भागलपुर के समीप आज भी स्थित है। इसी पर्वत के आसपास ही कहीं यह महत्व-पूर्ण परिषद् हुई होगी।

२.४ राक्षस, मानव और देव

दक्षिणी जातियाँ कुछ सीमा तक वन्य होकर भी भारतीयता के नाते देवों की अपेक्षा कहीं अधिक प्राचीन थीं, अतः बड़प्पन का अधिकार भी उन्हीं का था। पुराणों में भी इसीलिये इस प्रकार का वर्णन मिलता है कि असुर ज्येष्ठ बंधु थे और प्रारंभ में संपूर्ण पृथ्वी पर, अर्थात् समूचे भारतवर्ष पर, उन्हीं का स्वामित्व था, जबकि देव जाति के लोग कनिष्ठ बंधु थे तथा उन्होंने पृथ्वी (राज्य) में से अपने भाग की मांग की, तब उनमें आपस में कलह प्रारंभ हुआ। किंतु फिर कालांतर में जब दाक्षिणात्य राक्षस, नाग तथा वानरादि जातियों और उत्तर के देव, मानव आदि लोगों को मिलाकर एक ही विशाल भारतीय राष्ट्र की कल्पना रूढ़ हुई,तब दाक्षिणात्यों की प्रमुख जाति राक्षसों का समावेश देवयोनि में किया जाने लगा। मानवों ने भी देवों की तुलना में अपने श्रेष्ठत्व की भावना प्रदर्शित करते हुए 'आर्य' नाम ग्रहण किया।

२.५ प्रथम विदेशी लुटेरा हिरण्याक्ष

वैभवशाली भारत की कीर्ति बाहर फैली तो विदेशी आक्रमण भी प्रारंभ हो गये। 'हिरण्याक्ष' ऐसा ही एक आक्रामक था। भारत की सम्पत्ति (हिरण्य) पर आँख (अक्ष) रखने वाला वह दैत्य पराक्रमी व क्रूर था। उससे आक्रांत क्षेत्र (वर्तमान पंजाब) नष्ट-भ्रष्ट हो गया। उस परिस्थिति का वर्णन पृथ्वी के डूबने की कल्पना के साथ पुराण-लेखकों ने किया है। इस हिरण्याक्ष रूपी घोर संकट का जिसने निवारण किया, वह अतुल पराक्रमी महावीर, वराह अवतार के नाम से प्रसिद्ध हुआ, क्योंकि उसने तात्कालिक अर्थात् 'भाड़े की सेना' (mercinary army) तैयार करने की कल्पना और आविष्कार कर, उसे सफल सिद्ध कर दिखाया था। किराये के सैनिकों में वराह के सभी गुण रहा करते हैं, यथा–अणिक पराक्रम, नीति-न्याय-ध्येयनिष्ठा का अभाव इत्यादि। इस प्रकार की दोषपूर्ण सेना ध्येयनिष्ठा से निर्मित प्रत्युत्पन्नमतित्व, स्थिरता तथा सहकार्य की भावना से रहित होती है, परन्तु फिर भी जिसने इसी सेना से परकीय आक्रमणकारियों का संहार किया, क्या उस लोकोत्तर पुरुष का अवतारों में गिना जाना स्वाभाविक नहीं है? हिरण्याक्ष का वध किये जाने का स्थान ही 'वराहमूलम्' कहलाया, जो वर्तमान काश्मीर का 'बारामूला' है। उत्तरकालीन समाज ने उस घटना की स्मृति को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये वराह-मूर्तियां संपूर्ण देश में स्थापित कीं। पानी में डूबती पृथ्वी को अपने दंष्ट्र के आधार पर ऊपर की ओर उठाये रखने वाले वराह अवतार का वह चित्र देखकर प्राचीन काल की वह संपूर्ण घटना आज भी नेत्रों के सामने प्रत्यक्षवत् दिखायी दे सकती है।

तृतीय अध्याय : राष्ट्रभावना का साक्षात्कार

तृतीय अध्याय में श्री आप्टे ने नरसिंहावतार तथा वामनावतार के स्वरूप का विवेचन किया है।

३.१ विजितों और विजेताओं का संघर्ष

दैत्यवंशीय हिरण्यकशिपु भारत पर राज्य करने वाला प्रथम विदेशी राजा था। उसकी राजधानी वर्तमान मुलतान में थी (मुलतान का प्राचीन नाम प्रह्लादपुरी अभी तक प्रचलित है और वहाँ प्रह्लाद का मंदिर भी सर्वविदित है)। पुराणों के अनुसार हिरण्यकशिपु को वरदान प्राप्त हुआ था कि वह न तो मनुष्य द्वारा मारा जायेगा और न पशु द्वारा ही; न तो वह दिन में मारा जा सकेगा, न रात्रि में; न उसे अस्त्र से मारा जा सकेगा, न शस्त्र से। वस्तुतः यह वर्णन हिरण्यकशिपु के राज्य की पक्की व्यवस्था और उसकी अपने शरीर की रक्षा के लिये की हुई व्यवस्था का ही है। उसे इतनी दक्षता क्यों रखनी पड़ी थी? क्योंकि वह परकीय दैत्यजाति का था तथा क्रूर व अत्याचारी था जैसा कि अपने पुत्र प्रह्लाद को उसके द्वारा दी गयी यन्त्रणाओं से प्रकट होता है। परन्तु प्रह्लाद को उसने यन्त्रणाएँ दीं भी किसलिये? क्योंकि हिरण्यकशिपु खड्ग के बल पर अधिक महान

संस्कृति वाले सुसभ्य भारतीयों पर शासन करना चाहता था और उस राज्य का भावी उत्तराधिकारी प्रह्लाद भारतीय आदर्शों का उपासक बन गया था। प्रह्लाद को दी जाने वाली यंत्रणाओं में उसके लिये अपने प्राणों की भी चिंता न कर प्रयत्न करने वाले सहस्रों लोगों की कृतकार्यता ही प्रह्लाद की रक्षक बनी, जिसका पुराणों में अनेक प्रकार से वर्णन है, जैसे—उसे एक ऊँचे पर्वत-शिखर से गिराने पर वृक्षों ने उसे अधर में ही झेलकर उसका बाल भी बाँका न होने दिया। अन्ततः जनता के क्रोध का विस्फोट ही नरसिंहावतार के लाक्षणिक रूप में वर्णित है। पुराणों में वर्णित स्तंभ, निर्जीव तथा निष्क्रिय समाज का प्रतीक है। इस स्तंभ पर हिरण्यकशिपु ने पादप्रहार किया तो नरसिंह प्रकट हुआ, इस वर्णन का तात्पर्य सुप्त जनशक्ति का अपनी भावनाओं पर आघात होने पर भीषण रूप में प्रकट होना है। इस अवतार के कार्य में नरत्व और सिंहत्व के सम्मिश्रण की अभिव्यक्ति हो उठी। सत् प्रवृत्ति की प्रेरणा से चेतकर तथा प्राण हथेली पर लेकर लोगों का भड़क उठना ही इस अवतार में निहित मनुष्यत्व है तथा सिंह के समान क्रूरता, अविचारिता और विवेक व संयम से रहित क्रोध 'नरसिंह' का सिंहत्व है। स्वयं प्रह्लाद भी उस क्रूर कृत्य को विस्मित होकर देखता ही रह गया। हमारे प्राचीन इतिहास में राष्ट्रभावना का, साधारणतः यही सर्वप्रथम सुस्पष्ट उदाहरण है।

३.२ शील का अनुगामी राज्य

दैत्यवंशीय प्रह्लाद के अत्यन्त न्यायपूर्ण व लोकप्रिय शासन, अर्थात् 'सुराज्य' के कारण 'स्वराज्य' का आन्दोलन छेड़ना सरल नहीं था। परन्तु इन्द्र ने १२ वर्ष तक प्रह्लाद की सेवा कर उसके आचार, विचार, कार्यपद्धति आदि को समझकर उसके 'शील' को आत्मसात् कर लिया। यह संकेत इन्द्र द्वारा प्रह्लाद से शील माँगने पर क्रमशः धर्म, सत्य, सदाचार, बल व लक्ष्मी के भी शील के साथ ही चले जाने की पुराणकथा में निहित है। अर्थात् इन्द्र ने क्रमशः अपना प्रभाव स्थापित कर प्रह्लाद को केवल नाम का राजा बना रहने दिया।

३.३ यज्ञ-मीमांसा

प्रह्लाद-पुत्र विरोचन को नामधारी राजा का पद रुचिकर न लगा, अतः अपना राज्य छोड़कर उसने नास्तिकवाद के एक महान आचार्य के रूप में अपने जीवन को ढाला था और इन्द्र का प्रत्यक्ष शासन चलता रहा। किंतु उसके पुत्र बलि ने संपूर्ण देश में भ्रमण करते हुए स्थान-स्थान पर बड़े-बड़े यज्ञ करने आरम्भ किये। उन दिनों 'यज्ञ' संस्था का रूप आज जैसा नहीं था। तब यज्ञ एक प्रकार की संगठन-प्रक्रिया थी। यज्ञ के द्वारा प्राप्त होने वाले सामर्थ्य का अनुमान यज्ञविधि का वर्णन पढ़ने पर भी हो सकता है। देश के कोने-कोने की अच्छी जानकारी तथा संगठनशास्त्र का साक्षात्कार व्रतस्थ यज्ञकर्ता को करना होता था। अतः जनता के अन्तःकरण पर यज्ञकर्ता का प्रभाव भी स्वाभाविक ही होता था। इसीलिए सौ यज्ञ करने पर 'इन्द्र के पद की प्राप्ति' वाली धारणा प्रचलित हुई थी।

३.४ सुराज्य-संस्थापक बलि और स्वत्व-संरक्षक वामन

बलि ने यज्ञों की धूम मचाकर देश के हृदय-सिंहासन पर भी अधिकार कर लिया और राज्य-सिंहासन पर भी। किंतु बलि का लोकप्रिय राज्य भी 'सुराज्य' था, 'स्वराज्य' नहीं और 'स्वराज्य की प्यास सुराज्य से नहीं बुझती' के सिद्धान्त के अनुसार अदिति-पुत्र वामन ने कश्यप प्रभृति वयोवृद्धों के मार्गदर्शन से बलि के प्रभाव से देश को मुक्त करने का कार्य अपने हाथ में लिया और उसमें सफलता प्राप्त की। बुद्धि की प्रखरता, शरीर का फुर्तीलापन, अल्प आवश्यकताएँ, निःस्पृह वृत्ति आदि की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति 'वामन' के बौने रूप में पुराणकारों ने की है।

वामन का स्वराज्य-आन्दोलन दो प्रकार का था—गुप्त और प्रकट। गुप्त के अन्तर्गत स्वराज्य के महत्व का विवेचन किया गया। प्रकट आन्दोलन में वर्णाश्रमधर्म के अनुसार आचरण की माँग करते हुए शिक्षा में ब्राह्मणों का, सेना व राज्यतंत्र में क्षत्रियों का तथा व्यापारादि में वैश्यों का प्रभुत्व स्थापित कर दैत्यों के वर्चस्व को कम करने की कूटनीति चलायी गयी। इस धर्म-सम्मत माँग को बलि अस्वीकार नहीं कर सकते थे, पर मँजे हुए राजनीतिज्ञ शुक्राचार्य ने बलि को वामन के आंदोलन का वास्तविक उद्देश्य स्पष्ट करते हुए उस आंदोलन

को कुचलने का परामर्श दिया। किंतु धर्मशासन की घोषणा करने वाले बलि को उनका परामर्श ठीक नहीं लगा। तीनों वर्णों को अपने-अपने कर्मों को करने की सुविधा प्रदान की जाये, यह थी वामन की निरुपद्रवी प्रतीत होने वाली एकमात्र माँग। यही थी उनके द्वारा की गयी तीन पैर भूमि की याचना। तीसरा पैर बढ़ाते ही वामन के हाथों में आयी सत्ता के बल पर बलि को राज्यच्युत करके उसे वरुणपाशों से जकड़ दिया गया, इसलिये तीसरा पग बलि के सिर पर रखा गया—ऐसा वर्णन रूढ़ हुआ। वामन ने बलि को दक्षिण भारत के पश्चिमी किनारे पर रहने के लिये भेजा और वहाँ पर उसकी रक्षा का भार भी उन्होंने स्वयं ही स्वीकार किया। पुराणों के वर्णन से यह स्पष्ट है कि वह राज्य-बन्दी (state prisoner) था।

३.५ दीपावली का प्रारम्भ

वामन का यह कार्य चिरस्थायी सिद्ध हुआ और उत्तर-पश्चिम दिशा से आक्रमण समाप्त हो गये। 'वामन' को 'त्रिविक्रम' और 'उपेन्द्र' की उपाधियां तो समाज ने दीं ही, दासता और निराशा का अंधकार नष्ट होने के उल्लास को व्यक्त करने के लिये कई दिन तक चलने वाले एक महान दीपोत्सव की परंपरा भी प्रारंभ हुई। साथ ही परकीय समाज के सद्गुणों का श्रद्धापूर्वक स्मरण करना भी भारतीय संस्कृति की विशेषता है, इस सात्विक दृष्टि से उक्त स्वातंत्र्योत्सव–दीपावली–के अन्तर्गत राजा बलि की सुव्यवस्थित शासन-प्रणाली का स्मरण कराने वाला 'बलि प्रतिपदा' उत्सव भी प्रारंभ किया गया, जो आज तक प्रचलित है।

चतुर्थ अध्याय : राज्यतन्त्र की समस्या

मत्स्य, कूर्म, वराह, नरसिंह और वामन अवतारों का विवेचन करने के पश्चात् श्री आप्टे ने परशुराम और राम के प्रसिद्ध अवतारों का विवेचन करने के लिये चतुर्थ अध्याय की रचना की।

४.१ परशुराम-चरित्र का वैशिष्ट्य

पुराणोक्त सहस्रबाहु अर्जुन का वर्णन वस्तुतः सुसंगठित विशाल सेना वाले तथा अपने राज्य व विजित प्रदेशों में प्रजा को शस्त्रविहीन करा लेने वाले महत्वाकांक्षी साम्राज्यवादी राजा का वर्णन है। परशुराम ने, जो तपोनिष्ठ जमदग्नि के तेजस्वी पुत्र थे, शस्त्र धारणकर इस अन्यायी राजघोषणा का खुला विरोध किया। यही नहीं, सहस्रार्जुन की व्यक्तिनिष्ठ संगठना के स्थान पर उन्होंने तत्त्वाधिष्ठित संगठन का निर्माण किया। जब दोनों में संघर्ष की स्थिति आयी तो परशुराम विजयी हुए। कालान्तर में जनता को पीड़ित करने वाले अन्य क्षत्रिय शासकों का भी सर्वनाश कर इक्कीस बार पृथ्वी को निःक्षत्रिय करने की कीर्ति अर्जित की। वे क्रोधावेश में यह नहीं समझ पाये कि वास्तविक आवश्यकता क्षत्रिय-संहार की न होकर क्षत्रियों को नियंत्रित करने की है। अन्ततः कश्यप ऋषि ने उन्हें 'अब आपका कार्य पूर्ण हो चुका है, अतः आप तपस्या के हेतु यहाँ से प्रस्थान करें' कहकर उनके अवतार की समाप्ति की सूचना दी तो यह बात परशुराम को उचित प्रतीत हुई और उन्होंने क्षत्रियों से जीती सम्पूर्ण भूमि महर्षि कश्यप को दान कर दी। परशुराम जी ने दक्षिण में महेन्द्र पर्वत पर तपस्या की और वहाँ के असभ्य लोगों को वन साफ करने तथा कृषि-योग्य भूमि तैयार करने की शिक्षा भी दी। सागर को पीछे हटाकर उन्होंने कुछ नवीन भूमि भी तैयार की जिसे केरल में आज भी 'परशुरामक्षेत्र' कहा जाता है।

४.२ अराजकता से अराज्य की ओर

कश्यप महर्षि का राज्य प्रारंभ हुआ तो पृथ्वी उर्वी कही जाने लगी, क्योंकि तब वैश्यवर्ग ने, जो समाज-पुरुष की जंघा (उरु) का प्रतीक है, शासन चलाने का प्रयत्न किया। व्यवस्था ठीक चल सके, इसके लिये स्थान-स्थान पर जैसे भी उपलब्ध हो पाये, वैसे ही क्षत्रियों को शासक बनाया जाने लगा। कोशल के सूर्यवंशी त्रय्यारुण ने अपना राज्य अपने दुराचारी पुत्र को न देकर वसिष्ठ ऋषि के अधीन कर दिया, जिन्होंने राज्यवंश के बिना ही, अराज्य की स्थिति में, संपूर्ण शासन चलाया।

४.३ वसिष्ठ-विश्वामित्र संघर्ष

इससे भिन्न शासनपद्धति, जो दंडनीति पर आधारित थी, विश्वामित्र की थी। प्रसिद्ध वसिष्ठ-विश्वामित्र-संघर्ष

मा गृधः कस्य स्विद्धनम्

एक बार महात्मा गांधी प्रयाग में आनन्द भवन में ठहरे हुए थे। प्रातःकाल जवाहरलालजी एक बड़े लोटे में पानी लेकर गांधी जी के हाथ-मुंह धुलवा रहे थे। साथ ही दोनों में कुछ चर्चा भी चल रही थी। गांधी जी पूरी धुलाई नहीं कर पाये थे और लोटे का पानी समाप्त हो गया तो वे बड़े दुःखी हुए कि प्रमादवश उन्होंने अपना कार्य पूरा नहीं किया और पानी समाप्त हो गया। इस पर नेहरू जी ने कहा—'बापू! आप पानी के लिये क्यों चिन्ता करते हैं? इलाहाबाद में तो गंगा और यमुना—दोनों बहती हैं।' गांधी जी बोले—'गंगा-यमुना बहती हैं तो उसमें मेरा क्या है? वह पानी प्रकृति का है। मेरा हक तो उतने पर ही है, जितनी मेरी आवश्यकता है। मैं उससे अधिक कैसे ले सकता हूं?'

× × ×

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यांजगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥
(ईशावास्योपनिषद्)

यह सम्पूर्ण चराचर जगत् ईश्वर का वास-स्थान है, अतः त्यागपूर्वक भोग करना चाहिए। लोभ मत करो। यह धन किसका है?

□

देश
और
दिशा

महावीरदत्त गिरि

महानगरों में खोया जीवन

सभ्यता को समय-समय पर संकट की स्थिति का सामना करना पड़ता है। आज भी ऐसी ही स्थिति है। पुरानी संस्थाएं, पुराने जीवन-मूल्य और लक्ष्य दुर्बल पड़ रहे हैं तथा नयी शक्तियां उभर रही हैं। आज विज्ञान की प्रगति इतनी तेज हो गयी है और उसका क्षेत्र इतना विस्तृत और जटिल हो गया है कि सामान्य व्यक्ति के लिये अपने आपको शीघ्र उसके अनुकूल बना सकना कठिन हो रहा है। जहां विज्ञान तीव्रता से प्रगति कर रहा है और समाज को नये आविष्कारों से सम्पन्न कर रहा है, वहां उन आविष्कारों का उपयोग करने वाला मनुष्य अपना संस्कार समान गति से नहीं कर पा रहा।

परन्तु, संसार के महानगरों में आज एक ऐसे विचित्र समाज का उदय भी तीव्र गति से हो रहा है जिसकी धारणाएं और मान्यताएं हमसे सर्वथा भिन्न हैं। इसके कारण लोग दिग्भ्रमित हो रहे हैं और वे समझ ही नहीं पा रहे हैं कि यह सब क्यों और कैसे हो रहा है। आज समाज में जो भी संघर्ष, पीढ़ी-भेद आदि दिखायी देता है, उसके कारणों की खोज परिवर्तन की इस तीव्र गति में की जा सकती है।

संसार में नगरीकरण इतनी तेजी से हो रहा है कि अगले ५–६ वर्षों में ही विश्व के नगरों की जनसंख्या दुगुनी होने की संभावना है। इसी प्रकार अनेक देशों में विकास की गति इतनी तेज है कि ५–६ वर्षों में ही वहां मानव-निर्मित वस्तुओं की मात्रा भी दुगुनी हो जायेगी। इसका एक बड़ा कारण यह है कि विज्ञान और प्रौद्योगिकी संबंधी कोई मौलिक सूझ मस्तिष्क में आते ही उस पर प्रयोग होने लगते हैं और बहुत कम समय में ही उसे व्यावहारिक बना लिया जाता है। प्रयोग के सिद्ध होने में और उसको आम जनता तक पहुंचाने में भी समय का अन्तर बहुत कम हो गया है।

विचार, व्यवहार और प्रसार के बीच समय की दूरी अत्यन्त कम हो जाने से परिवर्तन और विकास की गति बहुत तेज हो गयी है। इस गति का लोक-जीवन पर बहुत प्रभाव पड़ रहा है। अत्यधिक तेजी से बदलने वाले समाज का नमूना विश्व के प्रमुख महानगरों में रहने वाले लोग और उनसे बनने वाला समाज है।

वस्तुतः महानगरों में ऐसा समाज रह रहा है, जैसा समाज अनेक देशों के अनेक नगरों में आसन्न भविष्य में या सुदूर भविष्य में बनने वाला है। ऐसा कह सकते हैं कि इन नगरों में 'भविष्य का समाज' ही मानो रह रहा है।

आज के सामान्य जीवन में और इन महानगरों में रहने वाले लोगों के जीवन में मूलभूत भेद यह है कि महानगरों के लोग अधिक तेजी से जी रहे हैं। ऐसे समाज में सही सुरक्षित रहने के लिये मनुष्य को अपनी अनुकूलन-क्षमता (एडेप्टीबिलिटी) में पहले की तुलना में अपरिमित सुधार करना होगा और इस क्षमता को बहुत अधिक बढ़ाना पड़ेगा। यदि वह ऐसा न कर सका तो उसका सकुशल रहना असंभव है।

प्रभाव द्रुत परिवर्तन का

तेज गति से जीने वाले महानगरों के लोगों की एक मुख्य विशेषता यह है कि उनका वस्तुओं से, अड़ोस-पड़ोस के लोगों से, रहने के स्थानों से और धारणाओं आदि के साथ अल्पकालिक संबंध रहता है। ऐसे लोगों के जीवन में तेज गति से वस्तुएं आती हैं और जाती हैं। इनके सम्पर्क में यद्यपि बहुत अधिक लोग आते हैं, किन्तु उनसे केवल अल्पकालिक संबंध ही रह पाता है। ऐसी परिस्थितियों में लोगों से संबंध तेजी से बनते और टूटते हैं। ये लोग नगर और नगरों में रहने के स्थान भी तेजी से बदलते हैं और तेजी से अपनी धारणाएं और मान्यताएं भी बदलते हैं। आज संसार के धनाढ्य देश क्षणभंगुर संबंधों वाले समाज से भरते जा रहे हैं।

किसी भी वस्तु के एक ही 'ब्राण्ड' (छाप) का उपयोग करते-करते लोग 'बोर' (ऊब) अनुभव करने लगते हैं और विज्ञापनों के प्रभाव से अथवा अन्य किसी कारण से 'ब्राण्ड' बदलते रहते हैं, परन्तु एक ही उपयोग की वस्तुओं के निर्माण में व्यापारिक या अन्य कारणों से विविधताएं इतनी आ गयी हैं कि उपभोक्ता के सामने बार-बार चुनाव करने का अवसर आता है और बार-बार चुनाव करने की झंझट के कारण व्यक्ति की निर्णय-शक्ति पर ही बरा प्रभाव पड़ने लगता है तथा अनेक लोगों की निर्णय-शक्ति ही क्षीण हो जाती है। कई बार लोग स्वयं निर्णय करने से बचने लगते हैं और थककर दूसरों पर निर्णय का बोझ डालकर निश्चिन्त हो जाते हैं।

महानगरों में आज पुराने दिनों जैसी लम्बी मित्रता नहीं बन पाती। पहले मित्र जीवन भर के लिये होते थे; परिचितों की संख्या सीमित रहती थी; किन्तु जिनसे परिचय होता था, उनसे बहुत लम्बे समय तक परिचय बना रहता और सामान्य परिचय प्रगाढ़ मित्रता में बदलता था। परन्तु आज परिवर्तन के इस तूफान के कारण प्रगाढ़ मैत्री क्षण भर में टूट जाती है। जिन लोगों से मित्रता बनी और बढ़ी, उनसे भी कभी काम धन्धा बदलने के कारण, तो कभी निवास-स्थान बदलने के कारण यह मित्रता टिक नहीं पाती।

बच्चे भी परिवर्तन की इस चपेट में आ गये हैं। बचपन की मित्रता बालक में भावात्मक परिपूर्णता पैदा करने में बहुत सहायक होती है। पर अभिभावकों के शीघ्र-शीघ्र स्थानान्तरण तथा काम और रहने के स्थान बदलने के कारण बालकों की मित्रता बहुत कम समय रह पाती है। बालकों के बाल-मित्र छूटने से एक प्रकार का सूनापन उनमें आ जाता है, वे अपने को एकाकी और खाली-खाली सा अनुभव करने लगते हैं। इसके कारण एक विचित्र प्रकार की उदासी उनके जीवन में आ जाती है।

महानगरों का जीवन पहले की तुलना में बहुत अधिक गतिशील है। इस कारण, रहने के स्थान और नगरों से बहुत कम समय तक ही संबंध रहता है। जिस नगर या मोहल्ले में अधिक गतिशील या घूमन्तू लोग रहते हों, वहां सामुदायिक जीवन का—नागरिक जीवन का—विकास कैसे हो सकता है? ऐसे घूमते रहने वाले, इधर-उधर भटकने वाले लोग किसी भी स्थान विशेष से अपना लगाव नहीं रख सकते और इस कारण उनमें किसी भी प्रकार की प्रतिबद्धता (सेन्स आफ कमिटमेण्ट) नहीं रह सकती। जहां प्रतिबद्धता नहीं, वहां समुदाय का जीवन कैसा होगा, यह कल्पनातीत है।

ऐसे समाज में सदैव पुराने और पिछड़े हुए विचारों को छोड़ने तथा नये विचारों को ग्रहण करने और जीवन में

उतारने का दबाव बना रहता है। प्रत्येक व्यक्ति के मन और मस्तिष्क में विश्व का एक चित्र, एक प्रतिमा रहती है। यदि उसे ठीक से काम करना है और जीवित रहना है तो उसकी कल्पना और वास्तविकता में कुछ तो साम्य रहना चाहिए। पर तेजी से बदलने वाले इस समाज में कल की वास्तविकता आज की कहानी बन जाती है।

इसका एक बड़ा कारण यह है कि आज ज्ञान का प्रसार बहुत तेजी से हो रहा है। रेडियो, टेलीविजन, समाचार पत्र-पत्रिकाएं, विज्ञापन, सभा-सम्मेलनों आदि के प्रचार-प्रसार के कारण जानकारी की बाढ़ सी आ गयी है। इस आवश्यक और अनावश्यक जानकारी का मस्तिष्क के ज्ञान-तन्तुओं पर तो प्रभाव पड़ता ही है। मस्तिष्क के स्नायु-संस्थान की भी कुछ तो मर्यादा है ही। अन्ततः इस मर्यादा को तोड़े बिना यह कब तक अपनी मान्यता, धारणा और मानसिक प्रतिमाओं को बदलता रह सकता है?

हम जानते हैं कि बार-बार परिवर्तन करते रहने से मनुष्य बीमार पड़ जाता है, क्योंकि परिवर्तन की गति को शरीर सहन नहीं कर पाता है। ज्ञानेन्द्रियों पर होने वाले घात-प्रत्याघात और क्रिया-प्रतिक्रिया का दुष्प्रभाव शरीर पर होना स्वाभाविक है, जैसे वातावरण में जब बहुत अधिक नवीनता हो तो उससे उत्कण्ठा बढ़ जाती है, उसका रस-ग्रंथियों पर प्रभाव होता है और इससे हृदय की गति बढ़ जाती है। नवीनता के कारण उत्पन्न 'एड्रेनलिन' की मात्रा रक्त में बढ़ जाती है। इसका भी दुष्प्रभाव होता है। इसके कारण कभी हृदय तेजी से धड़कता है तो कभी हाथ-पांव ठण्डे पड़ जाते हैं। इसका चित्त पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। चिन्ता, अकारण थकावट, चिड़चिड़ापन, हिंसावृत्ति, उदासीनता, भावशून्यता आदि ऐसे ही मानसिक आघातों के परिणाम हैं। आज ओषधियों का प्रयोग बहुत बढ़ रहा है। लोगों की रहस्यमय शक्ति में आस्था बढ़ी है। एक दूसरे के प्रति अलगाव और उदासीनता की वृत्ति पनपी है। ये सब लक्षण तेजी से बदलने वाले समाज के कारण ही उत्पन्न हो रहे हैं।

परिवर्तन के आघात से रक्षा के लिये व्यक्तिगत और सामाजिक—दोनों ही स्तरों पर प्रयत्न करने होंगे। सामान्यतः लोग अपने व्यक्तिगत जीवन में जाने-अनजाने इन आघातों से बचने का प्रयत्न तो करते ही हैं, जैसे एकान्त में घूमने जाना, रेडियो के शोर से बचने के लिये बन्द कर देना, दीपावली और नववर्ष के लिये शुभकामनाएं भेजकर मैत्री बनाये रखने का प्रयत्न करना, आदि। वास्तव में इन प्रयत्नों का अपना महत्व है पर इससे आगे बढ़कर यह भी हो सकता है कि अस्थायी वस्तुओं को खरीदना कम कर दिया जाये; जब यह अनुभव हो कि हम अनिद्रा, अकारण थकावट, मानसिक क्षोभ, क्रोध इत्यादि से ग्रस्त हो रहे हैं तो अपने जीने की गति धीमी कर दें और तनावरहित जीने का प्रयत्न करें।

परन्तु इस समस्या के मुकाबले के लिये व्यक्तिगत प्रयत्न ही पर्याप्त नहीं होंगे। जब समाज एक दिशा में तेजी से जा रहा हो तो समाज की दिशा बदले बिना व्यक्तिगत प्रयत्न सफल नहीं हो सकते। इसलिये सामाजिक, राजनीतिक स्तर पर भी भविष्य के आघात से बचने के लिये पूरी व्यूह-रचना करनी होगी। इस व्यूह-रचना का प्रथम पग शिक्षा-व्यवस्था में परिवर्तन और दूसरा पग है प्रविधि (टैक्नालाजी) पर लोकमत का प्रभाव।

शिक्षा

शिक्षा-व्यवस्था में इस प्रकार का सुधार करना चाहिए कि मनुष्य की अनुकूलन-क्षमता (एडेप्टेबिलिटी) में पर्याप्त वृद्धि हो। आने वाले युग में सामान्यतः सृजनात्मक और बौद्धिक कार्य तो मनुष्य करेंगे और थकाने वाले काम यंत्रों द्वारा होंगे। इस दृष्टि से आने वाले युग के लिये शिक्षा का ढांचा खड़ा होना चाहिए। महानगरों में भविष्य की शिक्षा के लिये एक बात निश्चित है कि व्यक्ति के लिये न तो भूतकाल की परिस्थितियों में विकसित ज्ञान बहुत आवश्यक है और न वर्तमान का, क्योंकि भूत और वर्तमान का ज्ञान बहुत तेजी से विस्थापित हो रहा है। अभिभावक बच्चों को विद्यालय इसलिये भेजते हैं कि वे भविष्य में अच्छे सफल नागरिक बनें। किन्तु भविष्य कैसा बनेगा या बन रहा है, इसका आज की शिक्षा-प्रणाली में समुचित ध्यान नहीं रखा जा रहा है।

शिक्षक और अभिभावक यह समझते हैं मानो भविष्य में उनका ही जीवन दुहराया जाने वाला है। जैसी शिक्षा उन्हें मिली है, वैसी ही शिक्षा वे आज के बच्चों को दे रहे हैं। शिक्षकों और अभिभावकों के जीवनकाल में परिवर्तन की गति बहुत धीमी थी, समाज में अधिक स्थायित्व और स्थिरता थी, किन्तु आज परिवर्तन की गति बहुत तीव्र हो गयी है, भविष्य में और अधिक तीव्र हो जायेगी। इसलिये यह आवश्यक है कि शिक्षा के ढांचे में इस प्रकार का सुधार हो कि बच्चों को परिवर्तन की दिशा और गति दोनों का ही ठीक से अभ्यास हो सके और वे अपने आपको परिवर्तन के इस आघात से बचा सकें, ऐसी उनकी योग्यता बन जाये।

प्रविधि

आज की प्रविधि (टैक्नालाजी) एक प्रकार से पागल हाथी जैसी बन गयी है। प्रविधि को मानव-हित में पालतू बनाना बहुत आवश्यक है। आज व्यक्तिगत स्वार्थ, लोभ और स्पर्धा के कारण बहुत दुरुपयोग किया जा रहा है। इसके कारण वातावरण-प्रदूषण की भयंकर समस्या पैदा हो गयी है और समाज-व्यवस्था भी विकृत हो रही है। इसलिये आज विश्व-भर में 'उत्तरदायी प्रविधि' का प्रबल आन्दोलन खड़ा करने की आवश्यकता है। इसके लिये किसी भी नयी प्रविधि को सार्वजनिक उपयोग में लाने से पूर्व यह परीक्षण कर लेना आवश्यक होगा कि इससे कहीं प्रदूषण तो नहीं होगा, कूड़ा-करकट तो एकत्र नहीं होगा, बहुत अधिक शोर तो नहीं होगा और सामाजिक-सांस्कृतिक रचना को तो आघात नहीं लगेगा। इसके साथ ही इस बात का भी पूर्वाभास कर लेना आवश्यक होगा कि इस नयी प्रविधि का दूरवर्ती दृष्टि से सारे समाज पर क्या प्रभाव पड़ने वाला है।

यदि इस बात का ज्ञान हो जाय और परीक्षण से यह ज्ञात हो कि इस प्रविधि से प्रदूषण, सामाजिक विघटन आदि दुष्प्रभाव होने वाले हैं तो उसे प्रतिबंधित करने का पुरुषार्थ भी हमें करना ही होगा। यह तभी संभव है जब विज्ञान और प्रौद्योगिकी का यह महत्वपूर्ण विषय हम केवल कुछ थोड़े से बुद्धिजीवियों, राजनीतिज्ञों, पूंजीपतियों, उद्योगपतियों आदि के निर्णय पर न छोड़ दें और आम जनता अपने हिताहित का ध्यान रख कर ऐसा लोकमत तैयार करे जो प्रविधि को अधिक उपयोगी और उत्तरदायी बना सके। इसी चेतना से हम प्रविधि के अधिक मानवीय उपयोग के लिये मार्गदर्शन कर सकते हैं और उसकी अधोगति को नियंत्रित कर सकते हैं, उसकी गति को परिमित कर सकते हैं।

१५५,ए एवेन्यू, सरोजिनी नगर
नयी दिल्ली

राष्ट्रीय चित्रपट के अभाव में आशा की झीनी किरण— क्षेत्रीय चित्रपट

सतीश पेडणेकर

भारतीय संस्कृति एकरस या एकरंगी न होकर इन्द्रधनुष की भांति बहुरंगी है। हर रंग एक विशिष्ट परिवेश, उसमें रहनेवाले लोगों की मान्यताओं, भाषा और आचार-व्यवहार की संश्लिष्ट अभिव्यक्ति हैं। यद्यपि हर रंग इन्द्रधनुष का अंग है, तथापि उसकी अलग चमक और आकर्षण भी है जो इन्द्रधनुष को लुभावना बनाते हैं।

हिन्दी के व्यावसायिक चित्रपट (कामर्शियल सिनेमा) को राष्ट्रीय चित्रपट निरूपित करने वाले, इस महत्वपूर्ण तथ्य को आँखों से ओझल कर देते हैं। विश्वव्यापी प्रभाव के उपरान्त हालीवुड का सिनेमा विश्व सिनेमा नहीं कहा जा सकता, उसी तरह देशव्यापी होने के उपरान्त हिन्दी का व्यावसायिक सिनेमा राष्ट्रीय सिनेमा नहीं है। देश भर के दर्शकों की औसत रुचि को संतुष्ट करने की धुन में हिन्दी का चित्रपट देश के किसी भाग के लोगों, उनकी समस्याओं को चित्रित नहीं कर पाता। ऐसे सिनेमा को राष्ट्रीय सिनेमा कैसे कहा जा सकता है?

वास्तव में भारतीय जीवन के बहुआयामी, जटिल यथार्थ को अभी एक भाषा के माध्यम से सूक्ष्मतापूर्वक व्यक्त किया भी नहीं जा सकता। उसकी समग्र अभिव्यक्ति विभिन्न भाषाओं और बोलियों से ही संभव है। हर क्षेत्र की भाषा ही उस क्षेत्र के विशिष्ट सामाजिक यथार्थ को प्रतिबिम्बित कर सकती है, क्योंकि वह अपने परिवेश और सामान्य जन की संवेदना से अभिन्न रूप से जुड़ी होती है। इसलिये वर्तमान स्थिति में विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं के चलचित्रों का संयुक्त चित्रपट ही भारतीय जीवन के बहुआयामी यथार्थ को समग्रता से चित्रित कर सकता है और यह समग्रता उसे राष्ट्रीय चित्रपट कहलाने की पात्रता प्रदान कर सकती है।

पिछले कुछ वर्षों में क्षेत्रीय भाषाओं के चलचित्रों (फिल्मों) के निर्माण में जो आश्चर्यजनक वृद्धि हुई है, उसके साथ उभरी एक जनजीवनोन्मुख प्रवृत्ति में से एक राष्ट्रीय चित्रपट के विकास की संभावना भी दृष्टिगोचर हो रही है। क्षेत्रीय भाषाओं के चित्रपट का यह उभार दक्षिण भारत में सर्वाधिक शक्तिशाली है। पिछले अन्तर्राष्ट्रीय चलचित्र-समारोह के 'भारतीय परिदृश्य' (इण्डियन

पैनोरमा) में दक्षिण भारतीय भाषाओं की फिल्में देखने के बाद सत्यजित रे ने टिप्पणी की थी कि भारतीय सिनेमा का भविष्य अब दक्षिण भारतीय सिनेमा पर निर्भर है। कुछ इससे मिलते-जुलते विचार मृणाल सेन ने 'इलस्ट्रेटेड वीकली' में लिखे एक लेख में व्यक्त किये थे।

ये टिप्पणियाँ अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं कही जा सकतीं। वास्तव में दक्षिण भारतीय भाषाओं की फिल्मों ने गुणात्मक और संख्यात्मक दोनों ही दृष्टियों से आश्चर्यजनक प्रगति की है। कुछ लोगों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि गत वर्ष सबसे अधिक फिल्में हिन्दी-उर्दू में नहीं, मलयालम में बनी हैं। तमिल और तेलगु की फिल्में भी संख्या की दृष्टि से हिन्दी फिल्मों से होड़ कर रही हैं। गत वर्ष विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं में बनी फिल्मों की संख्या इस प्रकार है—मलयालम १२३, हिन्दी-उर्दू—१२२, तमिल-१०५, तेलगु–९४, कन्नड़–५४, बंगाली–३४, गुजराती–३२, मराठी–१५, उड़िया–१५, पंजाबी–८, असमी–६।

परन्तु केवल संख्या में अप्रत्याशित वृद्धि के कारण क्षेत्रीय चित्रपट चर्चा का विषय नहीं बना, वरन् उसके चर्चित होने का कारण यह है कि उसमें बड़े पैमाने पर ऐसी फिल्में बन रही हैं जिनमें अपनी मिट्टी की सोंधी महक है। उनकी जड़ें अपने सामाजिक परिवेश में गहरे तक पैठी हुई हैं। वह कुछ वर्ष पूर्व हिन्दी चित्रपट में उठी 'नयी लहर' की तरह विदेशी फिल्म आंदोलनों की प्रतिध्वनि मात्र नहीं है, वरन् नये फिल्मकारों की स्थापित चित्रपट के सृजनात्मकता-विरोधी चरित्र के प्रति घृणा और चित्रपट माध्यम की अद्भुत संप्रेषणीयता का सार्थक उपयोग करने की इच्छा की कोख से एक नया चित्रपट जन्म ले रहा है।

क्षेत्रीय भाषाओं का सिनेमा हिन्दी के व्यावसायिक सिनेमा की तरह देश भर में फैले दर्शकों तक नहीं पहुंच पाता। उसकी यह दुर्बलता कलात्मक दृष्टि से उसकी शक्ति बन जाती है। चूंकि फिल्म का संभावित दर्शक सीमित और विशिष्ट भाषा जाननेवाला वर्ग ही होता है, इसलिये चलचित्रकार लघु बजट की फिल्म बनाने के लिये विवश होते हैं और कलात्मक फिल्म बनाने की जोखिम उठाने में सक्षम हो पाते हैं। फिर, उन पर देशभर के दर्शकों की औसत रुचि को संतुष्ट करने का व्यावसायिक दबाव न होने के कारण वे अपने चरित्रों को वास्तविक और सुपरिभाषित परिवेश में रखकर उनके जीवन की समस्याओं को सच्चाई से चित्रित करते हैं। इस कारण हिन्दी के व्यावसायिक सिनेमा की तुलना में, जिसमें काल्पनिक परिवेश और काल्पनिक चरित्रों का चित्रण होता है, क्षेत्रीय सिनेमा अधिक वास्तविक और प्रामाणिक प्रतीत होता है।

भारत में क्षेत्रीय चित्रपट का आरंभ चौथे दशक में मराठी चित्रपट से होता है। इसके बाद पांचवे और छठे दशक में सत्यजित रे, मृणाल सेन, तरुण मजूमदार, ऋत्विक घटक आदि की यथार्थवादी फिल्मों ने बंगाली चित्रपट को एक अलग पहचान प्रदान की। भारत का सर्वप्रथम राष्ट्रपति-पुरस्कार १९५३ में प्रह्लाद केशव अत्रे द्वारा निर्देशित 'श्याम ची आई' मराठी फिल्म को मिला था। गत वर्ष का राष्ट्रपति पुरस्कार भी क्षेत्रीय फिल्म 'घटश्राद्ध' को मिला है। इस बीच कई पुरस्कार क्षेत्रीय फिल्मों ने प्राप्त किये हैं।

परन्तु हाल ही में दक्षिण भारत में क्षेत्रीय सिनेमा में जो उभार आया है, उसका प्रारम्भ पट्टाभि राम रेड्डी द्वारा निर्देशित और गिरीश कर्नाड द्वारा लिखित बहुचर्चित फिल्म 'संस्कार' से होता है। इसमें हिन्दू समाज का अन्त-विरोध और ब्राह्मण वर्ग का पाखण्ड बड़े तीखेपन से चित्रित किया गया है। परिणामस्वरूप फिल्म पर प्रतिबंध भी लगा, परन्तु बाद में उसे राष्ट्रपति-पुरस्कार भी दिया गया। गिरीश कर्नाड और बा० व० कारंथ ने यथार्थ-वादी परम्परा को आगे बढ़ाया। अब तक इस निर्देशक-द्वय ने संयुक्त रूप से या स्वतंत्र रूप से 'वंशवृक्ष', 'काड़', 'चोमना दुडी' फिल्में बनायी हैं। इन फिल्मों में उन्होंने समाज की कुछ आधारभूत समस्याओं को उठाया है। परम्परागत संस्कृति में उनकी जड़ें हैं, इस कारण वे व्यक्ति के व्यवहार पर पड़नेवाले उसके प्रभाव से भलीभांति परिचित हैं। समाज से यह सुदृढ़ सम्बन्ध अनेक क्षेत्रीय फिल्मों को प्रामाणिक बनाता है। बा० व० कारंथ द्वारा स्वतंत्र रूप से निर्मित 'चोमना दुडी' हरिजन बन्धक श्रमिक के करुण जीवन की मर्मान्तिक कथा है। कर्नाड-कारंथ द्वारा निर्देशित 'गोधूलि' में परम्परा और परिवर्तन

के संघर्ष की प्रक्रिया को चित्रित करते हुए वर्तमान संदर्भ में परम्परा की प्रासंगिकता को परखने का प्रयत्न किया गया है। फिल्म देखकर लगता है कि वे परिवर्तन के पक्षधर तो हैं, परन्तु परम्परा को अंधी लाठी से पीटने के विरोधी हैं। फिल्म का नायक कलिग वर्तमान भारतीय बुद्धिजीवी का प्रतिनिधि है जो परम्परा और आधुनिकता के बीच द्विविधाग्रस्त मनःस्थिति में खड़ा है। इस वर्ष सर्वश्रेष्ठ कन्नड़ फिल्म का पुरस्कार प्राप्त करने वाली टी० एस० नागभरना द्वारा निर्देशित 'ग्रहण' में हिन्दू समाज में असामंजस्यजन्य संघर्ष चित्रित किया गया है।

इन सभी चलचित्रकारों के बारे में उल्लेखनीय तथ्य यह है कि ये सभी रंगकर्मी हैं और रंगमंच के द्वारा चलचित्र-मंच में आये हैं। इनकी फिल्में कथ्य की दृष्टि से तीक्ष्ण हैं, परन्तु शिल्प में दुर्बल हैं। फिल्म इन्सटीट्यूट के स्नातक गिरीश कासारवल्ली की 'घटश्राद्ध' कथ्य और शिल्प दोनों ही दृष्टियों से उल्लेखनीय है। इसमें चरित्र-सम्बन्धी सामाजिक प्रतिबन्धों को न निभा पाने वाली एक विधवा युवती के जीवन की विडम्बना चित्रित की गयी है जो एक वैदिक पाठशाला चलाने वाले पुराणपंथी पिता की पुत्री है। इस फिल्म को जहाँ कुछ समीक्षकों और दर्शकों ने मुक्त कंठ से सराहा, वहाँ कुछ लोगों ने इसे ब्राह्मण-विरोधी प्रचार कहकर इसकी आलोचना भी की है। इसके अतिरिक्त 'हंसगीते', 'कुडुरमोरे' (घोड़े का अंडा), संकल्प, ऋष्यश्रृंग, प्रशस्ति, कारावली और कनकम्बरा भी उल्लेखनीय फिल्में हैं; वे सामाजिक या व्यक्तिगत जीवन के किसी न किसी महत्वपूर्ण आयाम को उभारती हैं।

कन्नड़ की ये कलात्मक फिल्में डिब्बे में बन्द नहीं पड़ी रहतीं। उन्होंने अपना एक दर्शक-वर्ग भी तैयार किया है। इस सफलता का एक कारण यह भी है कि कर्नाटक में व्यावसायिक सिनेमा का प्रभाव अत्यंत सीमित रहा है, अतः दर्शकों की रुचि विकृत नहीं हुई है। इस कारण कन्नड़ के कला-चित्रों को उन कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ा, जिनका सामना अन्य क्षेत्रों में व्यावसायिक सिनेमा के कारण कला-चित्रों को करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त सरकारी अनुदान से भी इनके विकास में पर्याप्त सहायता मिली है।

कन्नड़ चित्रपट के विपरीत मलयाली चित्रपट का परिदृश्य पर्याप्त विस्तृत है, जिसके एक सिरे पर पीली और व्यावसायिक फिल्में हैं तो दूसरे सिरे पर अमूर्त चाक्षुष प्रतीतियाँ। इन दोनों सिरों के बीच यथार्थवादी फिल्में हैं, जिन्हें मलयाली चित्रपट की मुख्यधारा कहा जा सकता है। कुछ युवा चलचित्रकार चित्रपट के रूप के आधुनिकीकरण का प्रयत्न कर रहे हैं, फिर भी अधिकांश फिल्मों में रूप की तुलना में कथ्य पर ही अधिक बल दिया जाता है। यद्यपि इन दिनों मलयाली चित्रपट को पीली फिल्मों का ज्वर चढ़ा हुआ है, किन्तु वह कला-चित्रों के दर्शकों को प्रभावित नहीं कर पाया है।

राम कारियट की 'चेम्मीन' द्वारा मलयाली चित्रपट ने राष्ट्रीय चित्रपट-परिदृश्य पर अपनी अलग पहचान की अनुभूति करायी थी। अब अदूर गोपालकृष्णन, अरविन्दन, जान अब्राहम, वासुदेवन नायर, के० जी० जार्ज और बाकर आदि निर्देशकों के चलचित्र-जगत में आगमन के बाद बड़ी संख्या में कलात्मक फिल्में बननी प्रारम्भ हुई हैं। केरल देश का सर्वाधिक साक्षर प्रांत है, इस कारण जनता ने इन निर्देशकों की फिल्मों को प्रोत्साहन भी दिया।

मलयाली चित्रपट के नये चलचित्रकारों में से अधिसंख्य सत्यजित रे से प्रभावित हैं। उन्होंने केरल के जनजीवन के हर पक्ष को परखने का प्रयत्न किया है। कुछ फिल्मों में देश की समकालीन राजनीति के यथार्थ को प्रखरता से उभारा गया है। जी० अरविन्दन की 'उत्तरायणम्' मलयालम की श्रेष्ठ राजनीतिक फिल्म कही जा सकती है। उन्होंने तीन पीढ़ियों के राजनीतिक मोहभंग की कथा के द्वारा वर्तमान राजनीति की दारुण विडम्बना को प्रस्तुत किया है। अरविन्दन की दूसरी फिल्म 'कांचन-सीता' उनकी सर्वश्रेष्ठ फिल्म मानी जाती है। इसमें उन्होंने 'उत्तर रामचरित' की अपने ढंग से व्याख्या की है। चाक्षुषता इस फिल्म की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता है, जो दर्शकों पर अमूर्त चित्रांकनों का सा प्रभाव डालती है। अरविन्दन ने अपनी नवीनतम फिल्म 'थांपू' में सर्कस के जीवन को अत्यंत संवेदनशीलता से रूपायित

किया है। फिल्म में कथातत्त्व न होने से कई बार वृत्तचित्र की सी प्रतीति होती है, परन्तु छोटे छोटे प्रसंगों के माध्यम से वह सर्कस के कलाकारों के एकरस जीवन के बारे में एक गहरी अन्तर्दृष्टि देती है। वासुदेवन नायर की 'निर्माल्यम्' में नम्बूदरियों के सामाजिक विघटन को चित्रित किया गया है।

केरल में हर चलचित्रकार ने अपनी अलग शैली विकसित की है। एक ओर अरविन्दन जैसे चलचित्रकार हैं, जिनकी फिल्में कुछ अमूर्त चाक्षुष प्रभाव मात्र होती हैं, दूसरी ओर बाकर और जान अब्राहम जैसे चलचित्रकार हैं, जो स्पष्ट रूप से अपनी बात कहते हैं। बाकर की हाल ही में प्रदर्शित 'चुवन्ना विथुक्कल' एक ऐसी गणिका की कहानी है जो समाज-व्यवस्था में सम्मानपूर्ण स्थान पाने में सफल हो जाती है, परन्तु उसका हर्ष अधिक समय नहीं टिक पाता। एक दिन उसे ज्ञात होता है कि अब उसका स्थान उसकी बहिन ने ले लिया है। राधाकृष्ण की 'अग्नि' की नायिका भी सामाजिक संरचना की शिकार है, जिसे बदलना उसके वश की बात नहीं है। इसके अतिरिक्त अदूर गोपालकृष्णन की 'कोडायट्टम', के० सी० जार्ज की 'स्वप्नन्दनम्' और 'स्वयंवरम्' आदि भी उल्लेखनीय हैं।

कर्नाटक और केरल की तुलना में तेलगु और तमिल चित्रपट कलात्मक फिल्मों के निर्माण में कहीं पीछे हैं। फिर भी इस दिशा में कुछ प्रयास हो रहे हैं। जॉन अब्राहम की तमिल में बनी 'अग्रहाराथिल काजुथाई' सामाजिक असहिष्णुता पर टिप्पणी है। तेलगु में गत वर्ष दो महत्वपूर्ण कलात्मक फिल्में 'ओका होरी कथा' और 'अनुग्रहम्' बनी हैं। किन्तु ये दोनों ही फिल्में आन्ध्र से बाहर के लोगों ने बनायी हैं। मृणाल सेन की 'ओका होरी कथा' ग्रामीण क्षेत्र की चरम दरिद्रता और तज्जन्य मानवीय मूल्यों के ह्रास को चित्रित करती है, तो श्याम बेनेगल के 'अनुग्रहम्' का विषय व्यक्ति की स्वतंत्र चेतना और रूढ़िवाद का द्वन्द्व है। परन्तु हर वर्ष लगभग सौ चलचित्र बनाने वाले तमिल और तेलगु सिनेमाओं में एक दो कलाचित्रों का निर्माण अधिक महत्व नहीं रखता।

सत्यजित रे के बंगाल ने देश के सबसे सक्रिय क्षेत्रीय चलचित्र-निर्माण-केन्द्र के रूप में अपना स्थान खो दिया है। देश-विभाजन के बाद पैदा हुई बाजार की सीमितता, चलचित्रालयों की कमी, वित्तीय सहायता का अभाव और नयी निर्देशकीय प्रतिभाओं का न उभरना या पराभरण आदि इस सृजनात्मकता के ह्रास के प्रमुख कारण हैं। नयी प्रतिभाओं का न उभरना बंगाली कला-चित्रपट के विकास में सबसे बड़ा अवरोध है। सम्प्रति तो बंगला चित्रपट को इस बात से सांत्वना मिल सकती है कि सत्यजित रे और मृणाल सेन जैसे निर्देशक इतरभाषा फिल्में बनाने के बाद पुनः बंगला चित्रपट की छाया में लौट आये हैं।

एक समय 'सावकारी पाश', 'कुंकू' 'शेजारी', 'हा माझा मार्ग एकला' और 'श्याम ची आई' जैसी सामाजिक प्रतिबद्धता से युक्त फिल्में बनाने वाले मराठी चित्रपट ने तमाशा और बम्बइया फिल्मों के 'फार्मूलों' के दो पाटों के बीच अपनी सृजनात्मकता खो दी है। अपवाद सर्वत्र होते हैं, कुछ अपवाद मराठी चित्रपट में भी हैं। ये हैं—सत्यदेव दुबे का 'शांतता कोर्ट चालू आहे', जब्बार पटेल का 'सामना' और 'जेत रंजेत' तथा राजदत्त का 'देवकीनन्दन गोपाला'।

विभिन्न क्षेत्रीय चित्रपटों का यह विश्लेषण बताता है कि सभी क्षेत्रों में क्षेत्रीय चित्रपट का विकास एक जैसा नहीं है। कहीं हाल ही में नयी लहर उठनी प्रारम्भ हुई तो कहीं वह अब सशक्त धारा का रूप ले चुकी है। कर्नाटक और केरल की सरकारों की सहायता से क्षेत्रीय और कलात्मक चलचित्रों के विकास में पर्याप्त सहायता मिली है। अन्य सरकारों को भी इस दिशा में पग उठाना चाहिए ताकि कला-चित्रों का एक ऐसा चित्रपट आकार ले सके जो राष्ट्रीय हो और कलाविहीन व्यावसायिक चित्रपट का विकल्प बन सके।

पांचजन्य, २९, **रानी झांसी मार्ग,**
नयी दिल्ली—११००५५

कन्नड़ में अनुवाद

मैं आपकी त्रैमासिक हिन्दी-पत्रिका (मंथन) का चन्दादार हूं। इसमें जो उच्चकोटि के हिन्दी-लेख आते हैं, उनसे मैं बहुत प्रभावित और आकर्षित हूं। मैं इसका रसास्वादन यहाँ के लोगों को भी कराना चाहता हूं, इसलिये मैं उनका अनुवाद कन्नड़ में कर रहा हूं।... मैं विश्वास करता हूं कि आप इसके लिये अनुमति देते हुए मेरे इस काम में मुझे प्रोत्साहित करेंगे।

—बी० जी० सत्यनाथ,
१४००, दर्बल स्ट्रीट,
कोलार (कर्नाटक)

* * *

नेपाल में रुचि

यद्यपि आपके सम्पादन में निकली हुई उक्त पत्रिका (मंथन) को देखने और पढ़ने का अवसर अभी तक मुझे नहीं मिला है, लेकिन कुछ सुना गया है—अलग किस्म का है। संभवतः नेपाल की ओर अभी तक भेजने का प्रयास आपने नहीं किया है।

मैं एक नेपाली पत्रकारिता-क्षेत्र का व्यक्ति हूं, अतः आपकी पत्रिका पढ़ने की उत्सुकता है। पत्रिका के बारे में नेपाल के बुद्धिजीवियों में कैसी रुचि रहेगी, यह आपके लिये भी जिज्ञासा का विषय हो सकता है।

—सत्यदेव आचार्य,
२१।५०६, दिल्ली बजार,
काठमाण्डु (नेपाल)

सत्याग्रह : सिद्धान्त और व्यावहारिकता

मंथन का प्रकाशन चिन्तक-जगत् के लिये एक वरदान है। अंक २ में डा० वेदप्रकाश वर्मा का 'सत्याग्रह : सिद्धान्त और व्यावहारिकता' लेख बोधगम्य एवं सत्याग्रह की उपयोगिता और प्रयोग की सही जानकारी देने वाला है।

—मंगलाप्रसाद
महामंत्री, गांधी-दर्शन समिति
४, प्रिन्सेप स्ट्रीट, कलकत्ता–७०००७२

* * *

बेकारी, युवजन और शिक्षा

'बेकारी, युवजन और शिक्षा' डा० सीताराम जायसवाल का लेख सस्ती आलोचना का न होकर तथ्यों पर आधारित सुझाव के रूप में है, जो प्रशंसनीय है।

आपके पत्र

विजिगीषु

'विजिगीषु' में उल्लिखित घटना अंक के अन्य लेखों की तुलना में घटिया है। आशा है आप 'सेक्यूलर' बनने के चक्कर में न पड़ेंगे।

—कालीचरण अग्रवाल,
१४४ए, शाहजादी मंडी,
आगरा

मंथन से उद्धृत करके उक्त लघुकथा 'विजिगीषु' कम से कम दो राष्ट्रीय पत्र-पत्रिकाओं—स्वदेश (विशेषांक) और राष्ट्रधर्म—में प्रकाशित की गयी है। इस तथ्य के प्रकाश में उसका स्तर और महत्व विचारणीय है। किसी

से भी संबद्ध प्रेरक घटना में से शुभ अंश ग्रहण करके यदि हम 'सेक्यूलर' भी हो जायें तो क्या हानि है ?

——सम्पादक

* * *

आपद्धर्म और मर्यादा

'आपद्धर्म और मर्यादा' उदाहरण 'भेदभाव कम हो' को बढ़ावा देने के स्थान पर (भेदभाव) बढ़ाता है। हमारी भेदभाव कम करने की नीति को ठेस पहुंचती है। भगवान राम ने भीलनी के जूठे बेर खाये' जैसे उदाहरणों से यह वर्गभेद, जातिभेद समाप्त हो सकता है।

——कुलदीपकुमार,
पो० बा० २६, खन्ना (पंजाब)–१४१४०१

स्वास्थ्य-विज्ञान 'जूठे बेर' खाने की अनुमति नहीं देता। योग के भी यमनियमादि आठ अंगों में से 'नियम' के पांच भैदों में से एक है——'शौच', जिसका अर्थ है——स्वच्छता। स्वच्छता का समुचित ध्यान रखने पर भी जातिभेद के कारण छुआछूत मानना अनुचित भेदभाव है, परन्तु जूठा पानी न पीना भेदभाव का द्योतक नहीं।

——संपादक

* * *

ध्वनि-विज्ञान

I have already written to Sri P. Parameswaran about your learned article ('Dhwani Vijnan').

I have mentioned that it is in line with a project undertaken by the Bharatiya Vidya Bhavan entitled 'Ancient Insights and Modern Discoveries'. I do not know if you are thinking of writing a book on this subject in English giving more details about modern discoveries.

Yours is a research article and I am glad that you have given a scientific basis and also documentary evidence.

I could not find an English word for what you call "Dhwani Vijnan".

—**Dr. R.R. Diwakar**
(Chairman, Gandhi Peace Foundation)
Shri Arvind Krupa,
233, Sadashiv Nagar,
Bangalore-560006.

* * * *

In our 'Ancient Insights and Modern Discoveries' scheme we have contemplated holding seminars, panel discussions etc. It occurred to me that we could think of a seminar of some sort on the subject that you have discussed in your paper (on 'Dhwani Vijnan'). I shall write to you after discussion with Dr. Diwakar and others about such a seminar.

—**R.A. Kashyap**,
Project Officer,
Bharatiya Vidya Bhavan,
Kulapati K.M. Munshi Marg,
Bombay-400007.

* * * *

अप्रैल १९७९ के अंक में आपका ध्वनि-विषयक लेख प्रेरणादायक है। इस पर अधिक शोध होना चाहिए। प्राचीन भारत में मन्त्रों का प्रभाव ध्वनि को सिद्ध करने पर ही होता होगा, अन्यथा वे ही मन्त्र आज प्रभावहीन क्यों हो गये ?

——**पुरुषोत्तमदास हलवासिया,**
४७, मुक्ताराम बाबू स्ट्रीट,
कलकत्ता–७०००७

आर्थिक व्यवस्था हेतु अधिक स्थान

सामग्री सम्पूर्ण रूप से सामयिक, साथ ही गंभीर चिन्तन की परिचायक है। राष्ट्रीय महत्व की सभी समस्याओं एवं उनके समाधान-हेतु दिशा-निर्देशक विचार वर्तमान परिस्थिति में निश्चित रूप से उपयोगी सिद्ध होंगे।

आर्थिक व्यवस्था-हेतु अधिक स्थान एवं गंभीर चिन्तन वर्तमान परिस्थिति में विशेष रूप से अपेक्षित है।

—रमेशकुमार पारीक,
१६१।१, महात्मा गांधी मार्ग,
कलकत्ता–७०००००७

* * *

हिन्दी-शब्द-रचना की विशेषता

वाणी द्वारा जो कुछ हम दूसरे पर प्रकट करते हैं, उसे भाषा कहते हैं। भाषा अनेक प्रकार की होती है, उनमें अच्छी वही जो सर्वप्रिय, अधिक प्रचलित तथा जिसका व्याकरण अधिकतम ठीक हो। वह है हिन्दी भाषा—इसमें जो बोला जाता है, वही लिखा जाता है; जो लिखा जाता है, वही पढ़ा जाता है। दूसरी किसी भाषा में इस गुण का अभाव है। वहां लिखते कुछ हैं, पढ़ते कुछ हैं तथा उच्चारण कुछ और ही है। उर्दू भाषा जहाँ लिखने में उलटी है, वहाँ पढ़ने में भी जटिल, कठिन है। पंजाबी भाषा में मात्रा तथा अक्षर दोनों अशुद्ध हो जाते हैं। अंग्रेजी में हर प्रकार की क्लिष्टता व्याप्त है, जैसे– Do not go के तीनों शब्दों में स्वर o की ध्वनि भिन्न-भिन्न है। Pearl, girl, kind, wind में स्वर-मात्रा ea और i को एक समान कर दिया तथा i की ध्वनि हर शब्द में भिन्न-भिन्न है। इस प्रकार के अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं, जैसे–by, buy, bye; eight, freight; plough, rough; sign, fine; put, but–पूर्ण विरोधाभास हैं।

व्याकरण के बहुत से नियमों की प्रायः सभी भाषाओं के शब्दों में अवहेलना होती है, जबकि हिन्दी में इसके विपरीत सर्वथा व सर्वदा ही पालन होता है। कहते हैं कि हिन्दी भाषा कठिन है। थोड़े नियमों पर ध्यान देने से यह कठिनाई कम होते-होते दूर हो सकती है :—

१. शब्दों में किसी भी अक्षर को किसी भी स्थान पर किसी भी दशा में केवल एक मात्रा लगती है।

२. संयुक्त अक्षरों में मात्रा अन्तिम अक्षर को लगती है, पहले किसी को नहीं, अनुस्वर अपवाद हो सकता है।

३. मात्रा केवल पूर्ण अक्षर को लगती है। संयुक्त अक्षरों वाले प्रत्येक शब्द में अन्तिम अक्षर पूर्ण होता है।

४. हिन्दी भाषा में जो पांच वर्ग हैं, वे बड़े व्यवस्थित हैं, कई विशेषताओं पर आधारित हैं। हर वर्ग में पहले का दूसरा तथा तीसरे का चौथा बनाने के लिये आपको केवल भार देना है (ह) का।

हिन्दी व्याकरण की सबसे बड़ी विशेषता संधि है। संधि का पर्यायवाची शब्द किसी अन्य भाषा में नहीं है अर्थात् अनेक भाषाएँ व्याकरण-शून्य हैं। सन्धि में वर्ग-मैत्री तथा सुखोच्चारण-दो बड़े गुण हैं, जो भाषा को क्लिष्ट होते हुए भी सुन्दर बनाते हैं तथा रुचिकर भी।

—वासुदेव छाहड़िया,
पो० बा० नं०-२६, खन्ना-१४१ ४०१,
(पंजाब)

अनुरोध

दीनदयाल शोध संस्थान
भारतीय सन्दर्भ में
विभिन्न सामाजिक विज्ञानों
—अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, समाजशास्त्र, शिक्षाशास्त्र, इतिहास, संस्कृति—
तथा दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में शोध-कार्य के लिये
सन्दर्भ-पुस्तकालय का विकास कर रहा है।

विद्या-विवर्धन में रुचि रखने वाले सज्जनों से इन विषयों की उच्चकोटि की पुस्तकें अपने पास से अथवा क्रय करके संस्थान के पुस्तकालय को दान करने का अनुरोध है।

वांछित पुस्तकों की सूची संस्थान-पुस्तकालय से मंगवायी जा सकती है अथवा संस्थान के निदेशक के नाम धनराशि भी भेजी जा सकती है जिससे आवश्यकतानुसार पुस्तकें क्रय की जा सकें।

वस्तुतः उपयोगी पुस्तकों अथवा धनराशि के रूप में ५०० रुपये तक प्रदान करने वालों के नाम उनके द्वारा प्रदत्त पुस्तकों पर तथा ५०० रुपये से अधिक प्रदान करने वालों के नाम पुस्तकालय में एक पटल पर भी लिखे जायेंगे।

मंथन

अन्तर्गत

मध्ययुगीनता और आधुनिक युगबोध

न्याय और व्यक्ति-स्वातन्त्र्य

प्राचीन भारतीय कला-चिन्तन
के कतिपय पक्ष

भारतीय श्रमिक-आन्दोलन

गुरु अमरदास का क्रान्ति-दर्शन

गांधी, लोहिया और दीनदयाल :
विचारों में कितने निकट, कितने दूर ?

आदि-आदि....

दीनदयाल शोध संस्थान की त्रैमासिक पत्रिका
वर्ष २ अंक २ कार्तिक विक्रमाब्द २०३६ (अक्टूबर १९७९)

लोकनायक जयप्रकाश (११ अक्टूबर १९०२—८ अक्टूबर १९७९)

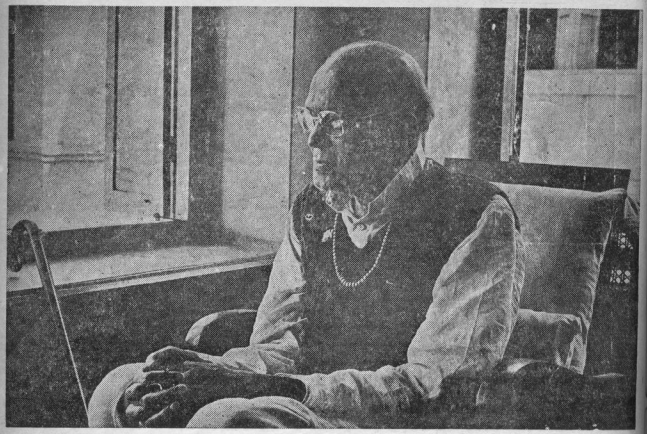

शत-शत नमन

समग्र क्रान्ति का स्रोत

"समाज की प्रत्येक संस्था अपनी विशिष्ट मिट्टी में उगती है और अपनी विशिष्ट जलवायु एवं परिवेश में पालित-पोषित होती है। दूसरों से ग्रहण करना सामाजिक विकास का एक सामान्य साधन रहा है, पर बाहर से उधार ली हुई कोई भी संस्था पनप नहीं सकती, यदि उसका समुचित अनुकूलन और एकात्मीकरण न किया जाये। भारत के लम्बे इतिहास के दौरान उसकी संस्थाओं को एक विशेष चरित्र प्राप्त हुआ है, जो अनन्य रूप से भारतीय है; एक जीवन-पद्धति विकसित हुई है, जो किसी सूक्ष्म ढंग से भारतीय सांचे में ढली हुई है; मन-मस्तिष्क की एक प्रवृत्ति विकसित हुई है, जो पुनः एक विशिष्ट भारतीय ढांचे में काम करती है।

"वर्तमान राजनीतिक और प्रशासनिक संस्थाएं विदेशी प्रत्यारोपण हैं। इन्हें (या इनके पूर्ववर्तियों को) भारतीय भूमि में आरोपित करते समय ब्रिटिशों ने भारत की अपनी प्राचीन या समकालीन – किन्हीं भी – राजनीतिक संस्थाओं को कोई महत्व नहीं दिया। ब्रिटिश शासन की समाप्ति के बाद भारतीय संविधान को जन्म देने वालों ने भी—जिनमें राजनीतिज्ञ और विशेषज्ञ दोनों सम्मिलित थे – भारतीय जीवन की परम्पराओं तथा गहराई पर प्रवहमान भारतीय जीवन-स्रोत पर मनोयोग नहीं किया। परिणाम, कम से कम भी कहें तो, सुखकर नहीं रहा।"

—जयप्रकाश नारायण
('टुवार्ड्स टोटल रिवॉल्यूशन', खंड ३, अध्याय १५—'बिल्डिंग अप फ्राम द विलेज')